रतीय दृष्टि से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान
मानवाश्रम-विद्यापीठ
दुर्गापुरा (जयपुर)

के

ज्ञानसत्र से सम्बद्ध प्रश्नोत्तरविमर्शात्मक वक्तव्य

प्रस्तोता:—मोतीलालशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाजः

५०० प्रति

मूल्य १।।)

श्रीः

भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय

प्राच्यसंस्कृतिनिष्ठ, विशेषतः प्राजापत्यशास्त्रनिष्ठ विज्ञ-सुविज्ञ महानुभावों के समक्ष आज हम एक वैसे शब्द का भारतीय दृष्टिकोण से समन्वय करने जा रहे हैं, जो शब्द प्रतीच्य 'विज्ञानवाद' के सम्पर्क में आकर आज विविध भ्रान्तियों का सर्जक प्रमाणित हो रहा है। और वह शब्द है सुप्रसिद्ध 'विज्ञान' शब्द। प्रायः हमारे सभी प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थों के नामकरण में इसी शब्द की प्रधानता रही है। उदाहरण के लिए अबतक प्रकाशित-शतपथविज्ञानभाष्य--प्रथम-द्वितीय--तृतीय-चतुर्थखण्ड, एवं प्रथमखण्ड का शेषांशभूत शतपथविज्ञान भाष्य, हिन्दी-गीता-विज्ञानभाष्य--प्रथम-द्वितीय--तृतीय--चतुर्थ--एवं पञ्चमखण्ड, उपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्यभूमिका प्रथम-द्वितीय-एवं तृतीय-खण्ड, ईशोपनिषत्-हिन्दी-ज्ञानभाष्य प्रथम एवं द्वितीय-खण्ड, श्राद्धविज्ञानान्तर्गत सापिण्डविज्ञानोपनिषत्-तृतीय--खण्ड, एवं आत्मविज्ञानोपनिषत् नामक द्वितीय खण्ड, माण्डूक्योपनिषद्विज्ञानभाष्य, आदि निदर्शन ही पर्य्याप्त मान लिए जाएँगे।

आज से अनुमानतः दो वर्ष पूर्व हमारे इस सांस्कृतिक अनुष्ठान के अन्यतम सहयोगी श्रेष्ठिप्रवर श्रीकुडीलालजी सेकसरिया महाभाग ने अपने पितृश्री स्व० श्रेष्ठिप्रवर श्रीगोविन्दरामजी महाभाग की पुण्यस्मृति

के उपलक्ष में खण्डचतुष्टयात्मक 'श्राद्धविज्ञान' नामक ग्रन्थ के दो खण्ड प्रकाशित कराए थे। एवं आप ही के द्वारा दोनों खण्डों की अनुमानतः ५००-५०० प्रतियाँ देश-विदेश के सुप्रसिद्ध मार्म्मिक तत्त्वज्ञ विद्वानों को उपहारस्वरूप भेजीं गईं थीं। उनमें से सामान्यरूप से एतद्देशीय कुछ एक विद्वानों के, तथा विशेषरूप से जापान-इटली-जर्मनी-आदि के नैष्ठिक विद्वानों के विभिन्न विचारविमर्श हमें सम्मति के रूप से यथासमय उपलब्ध हुए। एतद्देशीय विद्वानों में से प्रकृत में हम बिहार के राज्यपाल माननीय **श्री दिवाकर** महोदय के पत्र की ओर अपने पाठकों का ध्यान इसलिए विशेषरूप से आकर्षित करना चाहते हैं कि, आपने सम्भवतः ग्रन्थनामों में उद्धृत 'विज्ञान' शब्द को ही लक्ष्य बना कर ऐसी जिज्ञासा अभिव्यक्त की थी कि-**"'विज्ञान' शब्द से हमारा क्या तात्पर्य्य है"**। इसी प्रकार प्रचारानुबन्धिनी अपनी विगत प्रवास यात्राओं में भी अनेक श्रोताओं के द्वारा 'विज्ञान' शब्द के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के ऊहापोह श्रुताश्रुत होते रहे हैं। इसी प्रसङ्ग में **'राजस्थान वैदिकतत्त्वशोधसंस्थानमानवाश्रम'** के मन्त्री स्वनामधन्य सुप्रसिद्ध संस्कृतिनिष्ठ माननीय डॉ० श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल महाभाग ने गतवर्ष मानवाश्रम में विघटित होनें वाले वैदिकतत्त्वानुगत प्रश्नोत्तरविमर्श के प्रसङ्ग में माननीय राज्यपाल महाभाग के पूर्व्वनिर्दिष्ट पत्र का सङ्केत करते हुए हमारे सम्मुख 'विज्ञान' शब्द के समन्वय की जिज्ञासा अभिव्यक्त की थी, जो तत्समय ही रेकार्ड कर ली गई थी। उसी प्रश्नोत्तरविमर्शात्मिका वार्त्ता का संक्षिप्त स्वरूप यहाँ भी इसलिए उद्धृत कर दिया जाता है कि, अवश्य ही तन्माध्यम से सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः 'विज्ञान' शब्द से सम्बन्ध रखने वाले भारतीय दृष्टिकोण का समन्वय सम्भव बन सकेगा।

Kṛṣṇam Vaidika Tattvaśodha Saṃsthānam Jaipur on 17-12-58

'गतानुगतिको लोकः, न लोकः पारमार्थिकः' यह सुप्रसिद्ध आभाणक वर्त्तमान भारतीय भावुकप्रजा के सम्बन्ध में जैसा जिस रूप से अक्षरशः घटित हुआ है, वैसा अन्य वर्गों के साथ नहीं। सद्यःप्रभावोत्पादक बाह्य चाकचिक्यों से क्षणमात्र में प्रभावित हो पड़ने वाला आज का नितान्त भावुक भारतीय मानव अपनी सनातन-आर्षनिष्ठा को क्षणमात्र में ही विस्मृत कर देने की अपूर्व क्षमता ? से समन्वित है। स्व निष्ठानुगत स्व स्वरूप के परिज्ञान का अभाव ही इसकी इत्थंभूता भावुकता का एकमात्र प्रमुख कारण है। प्रतीच्य भौतिक विज्ञानक्षेत्र के सम्बन्ध में भी इसने इसी परप्रत्ययनेय-मूला भावुकता का अनुगमन कर लिया है। और तद्रूपपरिणामस्वरूप कुछ समय से इसकी ऐसी धारणा बन चली है कि, "जब तक हम अपने प्राच्य-विधि-विधानों को वर्त्तमान प्रतीच्य विज्ञान के विधि-विधानों से समतुलित नहीं बना लेंगे, तब तक हमारा प्राच्य गौरव कदापि सुरक्षित न रह सकेगा"। एकमात्र इसी व्यामोहन में आसक्त-व्यासक्तमना बनते हुए आज के कतिपय भारतीय विद्वान् 'विज्ञान' शब्द के माध्यम से अपने प्राच्य शास्त्रों की व्याख्याओं में प्रवृत्त होते जा रहे हैं। वर्त्तमान भूतविज्ञान की कृपा से समुद्भूत आज के विविध प्रकार के वैज्ञानिक अविष्कारों के सम्बन्ध में यदा कदा प्राच्य-भारतीय विद्वानों के मुख से भी ऐसा श्रुतोपश्रुत है कि-'इन सब विज्ञानों का मूल तो हमारे शास्त्रों में पहिले से ही विद्यमान है'। कहना न होगा कि, इसी विज्ञानावेश से अभिनिविष्ट कतिपय भारतीय विद्वान् आज इस दिशा में सर्वथा उपहासास्पद अनर्गल-असम्बद्ध विचार ही अभिव्यक्त करते रहते हैं। प्राच्य साहित्य में, विशेषतः वैदिक साहित्य में इसप्रकार के भौतिक-विज्ञानसूत्रों की अन्वेषणप्रवृत्ति का

इसलिए कदापि अभिनन्दन नहीं किया जा सकता कि, इस अन्वेषण-प्रवृत्ति से वेदशास्त्र का प्रातिस्विक गौरव अभिभूत ही प्रमाणित हो जाता है। हाईड्रोजन-ऑक्सिजन-नाइट्रोजन-कार्बन-आदि आदि तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से सम्बन्ध रखने वाले वर्त्तमान भौतिक आविष्कारों के माध्यम से कुछ वैसे ही भौतिक-आविष्कारों की कल्पना करते हुए कदापि वेदशास्त्र का महत्त्व प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। तार-टेलिफोन-रेडियो-वायुयान-आदि की कल्पना से तो वेदशास्त्र का गौरव सर्वथा विलीन ही हो सकता है, हुआ है।

यद्यपि यह ठीक है कि, किसी एक निश्चित सिद्धान्तबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर वर्त्तमान भौतिक विज्ञान के साथ भारतीय वैदिक विज्ञान का कोई विसंवाद शेष नहीं रह जाता। क्योंकि विज्ञान स्वयं अपने आप में एक वैसा निर्भ्रान्त सत्य सिद्धान्त है, जिसके सम्बन्ध में, उसके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण में प्राच्य-प्रतीच्य का कोई विभेद सुरक्षित नहीं रह सकता। अपितु दोनों अन्ततोगत्त्वा एक ही सिद्धान्त पर समन्वित हो जाते हैं। यदि एक पश्चिम का विद्वान् किसी भौतिक विज्ञान-सिद्धान्त के द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है, तो उसका यह निष्कर्ष कोई उसके घर की प्रातिस्विक सम्पत्ति नहीं है। अपितु विश्वव्यापक प्राकृतिक भूत-भौतिक पदार्थों के आधार पर ही वह किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। ठीक इसी प्रकार यदि एक भारतीय विद्वान् भी उन्हीं प्राकृतिक पदार्थों के अन्वेषण-माध्यम से यदि उसी निष्कर्ष का अनुगमन कर लेता है, तो यह भी कोई उसका पैत्रिक दायाद नहीं बन जाता। और यों दोनों ही अन्वेषक निष्कर्षबिन्दु की अपेक्षा से किसी एक ही सनातन-सत्य-विज्ञान के समानोपासक मान लिए जा सकते हैं। तथापि

यदि केवल गतानुगतिकन्याय से प्रतीच्य विज्ञानवाद के तात्कालिक चाकचिक्य से प्रभावित होकर एक प्राच्य विद्वान् उसी पद्धति के माध्यम से भारतीय वैदिक-विज्ञान के अन्वेषण में प्रवृत्त हो जाता है, तो वह सम्भवतः ही क्यों, निश्चय ही अपने घर के 'विज्ञान' शब्द के ठीक ठीक समन्वय करनें में सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित हो सकता है।

भारतीय 'विज्ञान' शब्द के वास्तविक समन्वय के लिए उचित तो यह था कि, भारतवर्ष की कुछ एक विशिष्ट प्रज्ञाएँ सर्वप्रथम तो अनन्य-निष्ठा से अपने वैदिक साहित्य का अध्ययन करतीं, तदनन्तर वर्त्तमान विज्ञान के उपक्षेत्र की योग्यता प्राप्त करतीं। एवं इन दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों के माध्यम से किसी निष्कर्ष पर पहुँचतीं हुईं इस दिशा में प्रयत्नशील बनतीं। तब कहीं वह भारतीय 'विज्ञान' शब्द के तत्त्वार्थ का ठीक ठीक समन्वय कर सकतीं थीं। यह सुनिश्चित है कि, विज्ञान शब्द के सम्बन्ध में वर्त्तमान भूतदृष्टि की अपेक्षा से हम जो कुछ भी निवेदन करेंगे, वह इसलिए अधिकांश में भ्रान्त होगा कि, वर्त्तमान भूतविज्ञान के वास्तविक परीक्षण से हम अणुमात्र भी सम्पर्क नहीं रखते। इस सम्बन्ध में हमारी केवल ऐसी मान्यता ही नहीं, अपितु आस्था है कि, जिसे आज भौतिक विज्ञान कहा जाता है, उसके सैद्धान्तिक मूलसूत्र उसी रूप से ज्ञानविज्ञानप्रधान वेदशास्त्र में भी विद्यमान होनें हीं चाहिएँ। प्रश्न है प्राच्य-प्रतीच्य-निबन्धन उन सैद्धान्तिक मूलसूत्रों के समसमन्वय का। किस रूप से, किस पद्धति, किंवा दृष्टि से प्राच्य वैदिक विज्ञानान्तर्गत भूतविज्ञान का प्रतीच्य भूतविज्ञान के साथ निर्विरोध समन्वय सम्भव बने, सचमुच यह एक बहुत बड़ा कार्य्य है। अपने प्रकाशित अप्रकाशित ग्रन्थों में स्थान स्थान पर निर्व्याजरूप से जिस

'विज्ञान' शब्द का हमनें प्रयोग किया है, उसके साथ कहीं भी वर्त्तमान भूतविज्ञान के प्रति जानकारी रखने का हमारा अणुमात्र भी दम्भ नहीं है। दुर्भाग्य से, अथवा तो महासौभाग्य से प्रतीच्य भौतिक विज्ञान के यशःशरीर को अभिव्यक्त करने वाली इंगुलिशभाषा का स्वाप्निक सम्पर्क भी हमें प्राप्त नहीं हुआ है। अतएव तद्भाषानुप्राणित, एवं तद्भाव-निबन्धन भूतविज्ञानात्मक प्रतीच्य 'विज्ञान' शब्द के सम्बन्ध में हम सर्वथा निरक्षरमूर्द्धन्य ही बने हुए हैं। अतएव वक्तव्य के आरम्भ में हीं हमें यह स्पष्ट कर ही देना चाहिए कि, हमारा 'विज्ञान' शब्द वर्त्तमान भूतविज्ञानशब्द से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है। भारतीय वेदशास्त्र-सम्मत विशुद्ध प्राच्य दृष्टिकोण के आधार पर ही हमनें सर्वत्र 'विज्ञान' शब्द समन्वित माना है। इसी दृष्टि से इष्टदेवानुग्रह से अभिन्ना गुरु-कृपामात्र से जो कुछ जानने का प्रयास हुआ है, उस भारतीय वैदिक-पारिभाषिक 'विज्ञान' शब्द के अर्थसमन्वय के सम्बन्ध में हीं किञ्चिदिव निवेदन किया जारहा है।

हमारे यहाँ एक विशिष्ट शैली, किंवा आर्ष-चिरन्तनपद्धति यह रही है कि, जिस तत्त्वार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए जो शब्द नियत हुआ है, स्वयं उस वाचक शब्द में हीं तच्छब्दवाच्य तदर्थ की रहस्यपूर्णा वैज्ञानिक व्याख्या निहित कर दी गई है। इत्थंभूता विशिष्टशैली के सम्बन्ध में उदाहरण के लिए सर्वप्रथम 'हृदय' शब्द को ही हम आपके सम्मुख रख रहे हैं। 'हृदय' शब्द का क्या अर्थ ?, यदि भारतीय प्रज्ञा से कोई यह प्रश्न करे, तो तत्समाधान के लिए इस प्रज्ञा को न तो किसी कोश की ही शरण में जाना पड़ेगा, न किसी भाष्य-टीका-किंवा व्याख्या की ही इसे कोई अपेक्षा रहेगी। अपितु यह प्रज्ञा स्वयं 'हृदय'

शब्द के आधार पर ही तद्रहस्यान्वेषण में प्रवृत्त हो पड़ेगी। स्वयं 'हृदय' शब्द ही अपना सुगुप्त अर्थ प्रश्नकर्त्ता के सम्मुख समुपस्थित कर देगा। मूल शब्द है 'हृदयम्', अर्थात् नपुंसकलिङ्गान्त। ऐसे इस 'हृदयम्' शब्द में 'हृ-द-यम्' इन तीन अक्षरों का सन्निवेश स्पष्ट है। तीनो में आरम्भ का 'हृ' नामक प्रथम अक्षर किसी विशेष तत्त्व की ओर सङ्केत कर रहा है, 'द' नामक द्वितीय अक्षर किसी अन्य ही तत्त्व का संग्राहक बना हुआ है, एव-'सहाद्यैर्व्यञ्जनैः पूर्वैश्चावसितैः०' इत्यादि प्रातिशाख्य सिद्धान्तानुसार व्यञ्जनसमन्वित 'यम्' नामक तृतीय अक्षर किसी तीसरे ही तत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। हरणार्थक, किंवा आहरणार्थक 'हृञ् हरणे' नामक धातु से ऋषि-प्रज्ञा ने 'हृ' इस एकाक्षर का ग्रहण किया। खण्डनार्थक, किंवा विस-र्गात्मक 'दो अवखण्डने' नामक धातु से 'द' इस एकाक्षर का संग्रह किया। एवं 'यम्' यह तीसरा एकाक्षर नियमन भाव का, किंवा स्तम्भन-भाव का संग्राहक मान लिया आचार्य्यों नें। इसप्रकार 'हृ' नामक प्रथ-माक्षर का तात्पर्य्य माना गया आहरण, किंवा आदान। 'द' नामक द्वितीयाक्ष का अर्थ हुआ खण्डन, किंवा विसर्ग। एवं 'यम्' नामक तृतीयाक्षर का तात्पर्य्य हुआ नियमन-स्तम्भन, किंवा स्थितिभाव। वस्तु का ग्रहण करने वाली शक्ति ही 'हृ' का अर्थ हुआ। जिस शक्ति के द्वारा जो वस्तु आहृत हुई है, आई है-उसे परावर्त्तित कर देने वाली, लौटा देने वाली शक्ति ही 'द' का अर्थ हुआ। एवं यह आहरणात्मक वस्त्वादान, तथा खण्डनात्मक वस्तुविसर्ग, सहजसिद्ध ग्रहण औ त्याग, लेना और देना, दोनों विरुद्ध शक्तियाँ जिस स्थिर बिन्दु पर नियमित रूप से व्यवस्थित बनीं रहतीं हैं, वह नियत बिन्दुसीमा, वह उभयस्तम्भनसीमा

ही तीसरी शक्ति मानी गई, एवं वही साङ्केतिकरूप से 'यम्' नाम से प्रसिद्ध हुई। और यों 'हृ' अक्षर आदानरूपा आगति का, 'द' अक्षर विसर्गरूपा 'गति' का, तथा 'यम्' अक्षर स्तम्भनरूपा-नियमनरूपा 'स्थिति' का संग्राहक बन गया। आगति-गति-स्थिति-इन तीन शक्तियों का स्वरूपविश्लेषण करने वाली 'हृ-द-यम्' इन तीन अक्षरों की समष्टि ही 'हृदयम' शब्द कहलाया, यही तात्पर्य्य है।

क्या तात्पर्य्य हुआ इस हृदयशब्दवाच्या शक्तित्रयी का ?, प्रश्न का महारम्भसाध्य उस अनिरुक्त प्रजापतितत्त्व से सम्बन्ध है, जो प्रजापति प्रत्येक पदार्थ के हृदय में-केन्द्र में-गर्भ में-किंवा सर्वान्तरतम 'सान्तर' (सेन्टर) स्थान में प्रतिष्ठित रहा करते हैं। जिनका कि-

"प्रजापतिश्चरति गर्भे-अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
—यजुःसंहिता ३१।१६।

इत्यादि वेदमन्त्र से यशोगान हुआ है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड उसका अपना विश्व है, अपना संसार है। एवं स्वसंसाररूप प्रत्येक वस्तुपिण्ड का-जनन-मरणादि लक्षण सुप्रसिद्ध षड्भावविकार तद्वस्तु की केन्द्र-शक्ति पर ही अवलम्बित है। आदानविसर्गनियमनभावात्मिका वह हृच्छक्ति ही 'अन्तस्तिष्ठन्-नियमयति सर्वान् वस्तुभावान्' निर्वचन से 'अन्तर्य्यामी' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसे भावुक भक्तप्रजा घट-घट-व्यापक माना करती है। आहरण से ही वस्तु का स्वरूपसंरक्षण होता है। अतएव इस आदानशक्ति के अधिष्ठाता विष्णुदेवता को सृष्टिपालक कहा गया है। विसर्गात्मक खण्डन से ही वस्तुस्वरूप का विस्रंसनात्मक

...श होता है। अतएव इस विसर्गशक्ति के अधिष्ठाता इन्द्रात्मक रुद्रदेवता को सृष्टिसंहारक मान लिया गया है। एवं नियमनात्मिका स्थिति से ही वस्तुस्वरूप का आविर्भाव होता है, अतएव इस नियमनशक्ति के अधिष्ठाता प्रतिष्ठात्मक ब्रह्मदेव को सृष्टिकर्त्ता कह दिया गाया है। विष्णु-...-ब्रह्मा-इन तीन प्राकृतिक प्राणदेवताओं से अभिन्ना आगति-गति-स्थिति-रूपा शक्तित्रयी ही इसप्रकार वस्तुस्वरूप की भाग्यविधात्री बन रही है।

क्या तीनों शक्तियाँ परस्पर विभिन्न हैं ?। नहीं। अपितु एक ही शक्ति की ये तीन विभिन्न अवस्थाएँ हैं, जो कि शक्ति **'अव्यक्तप्रकृति'** कहलाई है। एवं जोकि अव्यक्तप्रकृति **'अव्यक्तोऽत्तर इत्याहुस्तमाहुः परमां गतिम्'** इत्यादि गीतासिद्धान्त के अनुसार **'अत्तर'** नामसे प्रसिद्ध है। अत्तरात्मिका इसी अव्यक्ता प्रकृतिदेवी के अनुशासन से सम्पूर्ण विश्व, एवं सम्पूर्ण चर-अचर प्रजा-स्थावर-जङ्गम-प्रपञ्च सञ्चालित है, व्यवस्थित है, जैसा कि-

'तस्य वा एतस्य-अत्तरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः-सूर्य्याचन्द्रमसौ--अहोरात्राणि--अर्धमासाः--ऋतवः--सम्वत्सरा विधृतास्तिष्ठन्ति' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से संसिद्ध है।

गतिलत्तण, क्रियालत्तण प्राण ही इस अत्तरप्रकृति की मौलिक परिभाषा है। अतएव गतितत्त्व को ही 'अत्तर' कहा जाता है। एवं इसी आधार पर सांख्यदर्शन का--**'प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाववन्निर्लेपः'** यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। क्योंकि गतिलत्तणा क्रिया ही कर्त्री बना करती है। विश्वकर्त्री यह गतिलत्तणा अत्तरप्रकृति अपने 'गति' भाव से एक-

रूपा ही है। आगे चल कर गतितत्त्व की विभिन्न अवस्थाओं के कार ही यह गति तीन भावों में परिणत हो जाती है। केन्द्र से परिधि की ओर अनुगत रहने वाली वही गति जहाँ 'गति कहलाई है, वहाँ परिधि से केन्द्र की ओर अनुगत रहने वाली वही गति 'आगति' स्वरूप में परिणत हो जाती है। ये दोनों हीं गतियाँ विरुद्ध दो दिशाओं का अनुसरण कर रहीं हैं। विरुद्ध दिशाओं का अनुगमन करने वालीं, दोनों इन विरुद्ध गतियों का एक बिन्दु पर निपात हो जाना हीं इनकी स्थितिभाव में परिणति है, यही स्तम्भन है। तात्पर्य्य-कम से कम दो विरुद्धदिग्द्वय गतिभावों के, किंवा अनेक विरुद्धगतिभावों के समन्वय से उत्पन्न हो पड़ने वाला स्तम्भनभाव ही 'स्थितिभाव' माना गया है। इसप्रकार जिसे लोकव्यवहार में 'स्थिति' कहा जा रहा है, वह भी तत्त्वतः गतियों का ही समुचितरूप है। और यों गति–आगति–स्थिति-तीनों का एकमात्र गतिभाव पर ही विश्राम हो रहा है। एक ही गतिरूप अव्यक्त अक्षर आगतिभाव से विष्णुरक्षर है, गतिभाव से इन्द्राक्षर है, एवं गतिसमष्टि-रूप स्थितिभाव से ब्रह्माक्षर है। व्यवहार में तीन तत्त्व हैं, तीन अक्षर हैं, तीन गतियाँ हैं। परमार्थ में तो एक ही तत्त्व के ये तीन विवर्त्तभाव हैं! तभी तो यहाँ का–'एकामूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म–विष्णु-महेश्वराः' मूलक भेदसहिष्णु अभेदवादात्मक वेदान्तसिद्धान्त सर्वमूर्द्धन्य प्रमाणित हुआ। जिस इत्थंभूत त्रितत्त्वमूर्त्ति एकमूर्त्ति गर्भस्थ प्रजापतितत्त्व का आदान-विसर्ग–नियमनात्मक रहस्यपूर्ण तात्त्विक वैज्ञानिक स्वरूप 'हृ–द–यम्' की समष्टिरूप 'हृदयम्' शब्द के माध्यम से ही सर्वात्मना विस्पष्ट बना हुआ है। और यही प्रथम उदाहरण है उस चिरन्तनशैली का प्रत्यक्ष निदर्शन, जिसके माध्यम से ही हमें 'विज्ञान' शब्दार्थ के समन्वय में प्रवृत्त होना है।

हाँ, तो तच्छैली के आधार पर ही 'विज्ञानम्' शब्द को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए, जिस इस शब्द के अक्षरों में ही भारतीय विज्ञानकाण्ड का रहस्यपूर्ण विश्लेषण सुगुप्त है, सुरक्षित है, पिनद्ध है। 'विज्ञानम्' शब्द के 'वि'–'ज्ञानम्'–ये दो विभाग स्वतःसिद्ध हैं। 'वि' सुप्रसिद्ध उपसर्ग है, जिसके **विशेष–विविध, एवं विरुद्ध,** तीनों ही अर्थ हो सकते हैं, जैसे कि 'वि' उपसर्ग से समन्वित' **'विकर्म्म'** शब्द के **विशेषकर्म्म–विविधकर्म्म–विरुद्धकर्म्म** तीनों अर्थ यथाप्रकरण शास्त्रों में समन्वित हुए हैं। इस दृष्टि से 'विज्ञानम्' शब्द के भी तीनों ही अर्थ सम्भव हैं, जिनके यह लक्षण किए जा सकते हैं कि--

(१) विशेषं ज्ञानं–विज्ञानम्।

(२) विविधं ज्ञानं-विज्ञानम्।

(३) विरुद्धं ज्ञान–विज्ञानम्।

प्रस्तुत विज्ञानशब्दार्थ के समन्वय–प्रसङ्ग में सर्वान्त के तीसरे विरुद्धभावात्मक विज्ञानभाव का तो स्वतः एव निराकरण हो रहा है। क्योंकि प्रकृतिविरुद्धज्ञानात्मक विज्ञान तो अज्ञानावृत ज्ञानलक्षण वह मोह है, जिसे अविद्यात्मक 'अज्ञान' ही कहा गया है, एवं जिसके सम्बन्ध में–**'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'** यह प्रसिद्ध है। शेष रह जाते हैं–प्रथम–द्वितीय लक्षण विशेष तथा विविधभावात्मक विज्ञान। सामान्यभाव जहाँ एकत्त्व का समर्थक है, वहाँ विशेषभाव अनेकत्त्व का समाहक माना गया है। नानाभावों से,नानाभावात्मिका विशेषताओं से, एवं तन्मूलक भेदभावों से सर्वथा अतीत सामान्य ज्ञान तो केवल वैसा निरपेक्ष ज्ञान है, जिसका प्राकृतिक विश्व में कोई भी उपयोग नहीं है। सामान्य-

सत्तानिबन्धन-अद्वय-अतएव इन्द्रियातीत वैसा निरपेक्ष ज्ञान तो सर्वथा ही तटस्थ है इन विश्वानुबन्धी विशेषज्ञानभावों के समतुलन में, जो कि-

"प्रत्यस्ताशेषभेदं यत्-सत्तामात्रगोचरम्
वचसामात्मसंवेद्यं-तज्ज्ञानं ब्रह्म संज्ञितम्"

इत्यादि रूप से 'ब्रह्मज्ञान' नाम से व्यवहृत हुआ है। अतः सामान्य ज्ञानात्मक ब्रह्मज्ञान का तो यहाँ प्रसङ्ग ही नहीं है। प्रसङ्ग प्रक्रान्त है विशेषभावात्मक विश्वानुबन्धी प्राकृतिक विज्ञानभावों का। विशेषभाव ही अनेकभावात्मक बना करता है। अतएव विशेषता तथा विविधता-दोनों अन्ततोगत्वा समानार्थ में ही परिणत हो जातीं हैं। एवं इस दृष्टि से यद्यपि 'विशेषं ज्ञानं विज्ञानं'का 'विविध ज्ञानं विज्ञानम्' इस लक्षण पर ही पर्य्यवसान हो जाता है। यद्यपि विशेष-और विविध-दोनों शब्दों में भी विज्ञानदृष्ट्या सुसूक्ष्म भेद है। तथापि उस सीमापर्य्यन्त अनुधावन करना अप्रासङ्गिक समझ कर प्रकृत में विशेषभाव का वैविध्य में ही अन्तर्भाव मानते हुए केवल मध्यस्थ लक्षण को ही लक्ष्य बना लिया जाता है।

'विशेषभावानुगतं-विशेषभावाभिन्नं-विविधं ज्ञानमेव विज्ञानम्' यही लक्षण बनता है विज्ञानशब्द का। 'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्' इस लक्षण के सुनने के साथ ही अनिवार्य्यरूप से यह जिज्ञासा जागरूक हो ही तो पड़ती है कि-'क्या कोई वैसा भी ज्ञान है, जो वैविध्य से शून्य है, नानात्व से पृथक् है, किंवा विश्वनिबन्धन भेदवादों से असंस्पृष्ट है?। जिज्ञासात्मिका यही सहज अपेक्षा अपनी सापेक्षता के आकर्षण से विज्ञान शब्द के ही द्वारा 'ज्ञान' शब्द का भी आकर्षण कर लेती है। सापेक्ष विज्ञानशब्द उसी प्रकार अपनी अपेक्षा-पूर्ति के लिए ज्ञान शब्द का आहरण कर ही लेता है, जैसे कि सापेक्ष 'शासित' शब्द अपेक्षा-

समन्वय के लिए 'शासक' शब्द का आहरण कर लिया करता है। यही सापेक्षशब्दों का परस्परानुबन्धपूरक वह सहज आकर्षण है, जिसके आधार पर विज्ञान का सुप्रसिद्ध वह 'सापेक्षतावाद' सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है, जिसके पुनः प्रचार का श्रेय स्वनामधन्य स्वर्गीय आईन्स्टीन महाभाग को प्राप्त हुआ है। एक को दूसरे से विभिन्न-पृथक्-बना देने वाला, अतएव 'भेदक' नाम से प्रसिद्ध 'विशेषभाव' जिससे अभिन्न है, ऐसा विविध भावात्मक ज्ञान जहाँ 'विज्ञान' कहलाया है, वहाँ इस विविध-रूपा भेदकता से पृथक् एकविध ज्ञान ही 'ज्ञान' माना जायगा, एवं इसी से सापेक्ष विज्ञानशब्द की अपेक्षावासना उपशान्त होगी। एवं यहाँ आकर अब हमें यह कह देना पड़ेगा कि—

एकं ज्ञानं—ज्ञानम्। एवं
विविधं ज्ञानं—विज्ञानम्।

क्या तात्पर्य्य है 'एकं ज्ञानं ज्ञानम्' का ?, एवं क्या स्वरूप है 'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्' का ?। किंवा क्या अर्थ है 'एकत्त्व' का ?, एवं क्या लक्ष्य है 'अनेकत्त्व' का ?। बस यह मूल प्रश्नात्मक सूत्र जहाँ हमारी प्रज्ञा में जागरूक हो पड़ता है, वहाँ तत्काल ही एक मन्त्र की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है—

यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

—कठोपनिषत् १।४।११।

श्रुति ने जहाँ जहाँ नानाभावों का, अनेकभावों का, पृथग्भावों का स्वरूपविश्लेषण किया है, वहाँ वहाँ उनके साथ साथ ही 'मृत्यु' शब्द का भी सम्बन्ध समन्वित माना है। अतएव इस श्रौती दृष्टि से यह

प्रमाणित है कि, नानात्व-भेदत्त्व-पृथक्त्त्व-जहाँ मृत्यु का स्वरूपधर्म्म है, वहाँ अनेकत्त्व-अभेदत्त्व-अपृथकत्त्व-अमृत का ही स्वरूपधर्म्म है। हम समझे नहीं, अमृत तो क्या, एवं मृत्यु का ?। क्या तात्पर्य्य है हमारा इन अमृत-मृत्युशब्दों से ?। श्रूयताम्! श्रुत्त्वा चाप्यवधार्य्यताम् !!

वैसा यः कश्चित् तत्त्व, जो कि स्वस्वरूप से निरपेक्षस्थिति-भावापन्न है, अतएव अपरिवर्तनीय है, अतएव नित्यकूटस्थ है, अतएव शाश्वत है, अविचाली है, सनातन है, ध्रुव है, व्यापक है, अत्यनपिनद्ध-भाव से एकान्ततः असीम, अतएव मायातीत, अतएव च विश्वातीत है, वही निरपेक्ष 'एकत्त्व' से समन्वित रह सकता है, एवं उसे ही हम 'अमृत' कहा करते हैं, और सम्भवतः अमृतात्मक उसी एकत्त्वनिबन्धन तत्त्वविशेष का नाम निरपेक्ष-'ज्ञान' है। इस सम्बन्ध में यह सर्वथा अविस्मरणीय है कि—अमृतब्रह्म का यह तटस्थलक्षण ही आपके सम्मुख रक्खा जा रहा है। क्योंकि वाङ्मनसपथातीत ऐसे निष्कल ज्ञान-ब्रह्म का स्वरूपलक्षण सम्भव ही नहीं है, जैसा कि—

> सं विदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
> यत्तो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

इत्यादिरूप से उसकी अनिर्वचनीयता स्वतः सिद्ध है। एवमेव सापेक्ष अमृतभावात्मक ज्ञान, तथा सापेक्ष मृत्युभावात्मक विज्ञान का स्वरूप भी अभी आरम्भ में तो इसी तटस्थभाव का अनुगमन कर रहा है। इसी तटस्थस्वरूप के माध्यम से आगे चलकर सम्भव है हम इन सापेक्ष-ज्ञानविज्ञानभावों के स्वरूपलक्षण-निष्कर्ष पर भी पहुँच सकें। दूसरे शब्दों में अभी तो केवल दार्शनिक दृष्टिकोण से ही यहाँ ज्ञान-विज्ञान-

शब्दों का लक्षण किया जा रहा है। भारतीय वैज्ञानिक दृष्टिकोण तो इससे सर्वथा पृथक् ही माना जायगा। किन्तु दर्शन भी अपने स्थान में 'दर्शन' तो है ही। वस्तु के बाह्यस्वरूप के दर्शनमात्र करा देने की क्षमता तो इस दार्शनिक दृष्टि में भी विद्यमान है। फिर वस्तुगत्या आरम्भदशा में दर्शन ही तो विज्ञान की मूलभूमिका-किंवा आरम्भदिशा मानी गई है। दार्शनिक सोपानपरम्परा के माध्यम से ही मानवीय मन क्रम क्रमशः विकसित बनता हुआ कालान्तर में तदभिन्ना बुद्धि कि विज्ञान-भाव से समन्वित होता हुआ विज्ञानस्वरूप का विश्लेषक बना करता है यही कारण है कि, मननात्मक, एवं निदिध्यासनात्मक विज्ञान के इन दोनों पर्वों का आरम्भ सर्वप्रथम दृष्टिमूलक दर्शनपर्व ही बना करता है। जैसा कि श्रुति के—'आत्माऽरे वायं द्रष्टव्यः' इस वचन से प्रमाणित है। आत्मदर्शन ही मन का प्राथमिक व्यवसाय माना गया है। तदनन्तर ही 'कथं द्रष्टव्यः' ?, यह जिज्ञासा जागरूक होती है, जिस जिज्ञासा का समाधान उसी श्रुति के द्वारा यों हुआ है कि—

प्रथम-श्रोतव्यः, अनन्तर मन्तव्यः, एवं सर्वान्त में निदिध्यासितव्यः। तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूपेण आत्मायं द्रष्टव्यः'। दर्शन, तन्मूलक श्रवण, तन्मूलक मनन, एवं तन्मूलक निदिध्यासन का जब उदय होगा, तभी विज्ञान का पूर्णस्वरूप जागरूक बन पाएगा। अभी तो हमारे लिए 'द्रष्टव्यः' निबन्धन दार्शनिक दृष्टिकोण ही एकमात्र अवलम्ब बना हुआ है।

तो क्या देखा हमनें ज्ञान, और विज्ञानशब्दों के द्वारा ?। देखा सुना हमनें यह कि-अवश्य ही कोई वैसा ध्रुव-शाश्वत-

व्यापक-अजर-अमर-तत्त्व है, जिसे व्यवहार की सुविधा के लिए ही हम 'ज्ञान' शब्द से व्यवहृत किए लेते हैं। दूसरे शब्दों में तथाभूत एकत्वनिबन्धन 'अमृत' तत्त्व को ही 'ज्ञान' कह सकते हैं। थोड़ा और स्पष्टीकरण अपेक्षित है अभी। यह सर्वात्मना अवधेय है कि, प्रक्रान्त प्रकरण के ज्ञान और विज्ञान, दोनों ही शब्द सापेक्ष बने रहते हुए प्राकृतिक शब्द हैं, विश्वानुबन्धी शब्द हैं। यदि विश्वानुबन्धी विज्ञान नानाभावत्त्वेन मृत्युमय है, तो तत्प्रतिष्ठारूप तत्सापेक्ष विश्वानुबन्धी ज्ञानशब्द भी कहने सुनने मात्र के लिए एकत्त्वभावनिबन्धनत्त्वेन अमृत बनता हुआ भी तत्त्वतः मृत्यु से ही आक्रान्त बना रहता हुआ मृत्युभाव ही है। जो विश्वातीत-मायातीत-निरपेक्ष शुद्ध ज्ञान है, वह तो सर्वथा ही तटस्थ है। कोई सम्बन्ध नहीं है उस विशुद्ध-निरपेक्ष-अमृतभावात्मक तटस्थ विश्वातीत ज्ञान का इन सापेक्ष ज्ञान-विज्ञान-भावों के साथ। इसीलिए तो हमें कहना पड़ा कि, यह तो दृष्टिमात्र है, जिसके माध्यम से सर्वथा तटस्थरूप से उस तटस्थ का इस ज्ञानविज्ञानात्मक तट पर प्रतिष्ठित रहते हुए हम उसका अनुमानमात्र ही लगा सकते हैं, सो भी अपने अन्तर्गत् में सर्वथा परोक्षरूप से ही—'को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत्'।

जिस ज्ञान का यहाँ अमृतरूप से महता समारम्भेण बखान किया जा रहा है, वह तो ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। ज्ञाता स्वयं ज्ञेय भूत-भौतिक विषयों की अपेक्षा में निमग्न है, जो कि नानाविध ज्ञेय विषय ही विविध भावात्मक विज्ञान के क्षेत्र माने गए हैं। ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय-विषय-विज्ञान-आदि आदि सभी शब्द एकहेलया भौतिक पदार्थों के साथ ही समन्वित रहने वाले सापेक्ष शब्द हैं। विश्वातीत, अचिन्त्य, अतएव

स्वानुभैवकगम्य उस विशुद्ध अमृतात्मक निरपेक्ष ज्ञान के साथ इन सापेक्ष ज्ञान-विज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय-आदि शब्दों का कोई सम्बन्ध नहीं है। आस्तां तावत्। देखिए उपज्ञालनभावात्मिका इस दार्शनिक दृष्टि से आगे चल कर क्या तथ्य निकलता है। सर्वथा लोकप्रज्ञामात्र से समन्वित प्रश्नोत्तरविमर्श के लिए आतुर अपन सभी अनुमान ही तो कर रहे हैं इन शब्दार्थों का। शाश्वत, अनन्तभावापन्न जो मूलसत्य है, जिसे कि-'सत्यस्य सत्यम्' कहा गया है, जो कि 'ज्योतिषां ज्योतिः' है, वह तो तटस्थ ही रहा है हमारी लोकप्रज्ञा से, एवं तटस्थ ही बना रहेगा तदवधि-पर्य्यन्त, यदवधि पर्य्यन्त कि हम इन ज्ञान--विज्ञान के लौकिक-भौतिक विजृम्भणों में आसक्त-व्यासक्त बने रहते हुए तदनुप्राणिता प्रश्नोत्तर-विमर्शचर्चा की उपासना करते रहेंगे। सिद्धावस्थानुगता स्वानुभूति के उदयानन्तर तो न प्रश्न ही सम्भव, न उत्तरप्रदान की ही आतुरता।

उक्त प्रसङ्ग के द्वारा थोड़ी देर के लिए हम अपने आपको इस तथ्य का अनुगामी मान लेते हैं कि, इस विविधभावसमाक्रान्त महामहिम महाविश्व में वैसे भाव-जो प्रतिक्षण विलक्षण--नवीन-नवीन भावों में परिवर्त्तित होते रहते हैं, पूर्वक्षण में किसी अन्य स्वरूप से संयुक्त रहते हुए उत्तर क्षण में किसी अन्य अवस्था में परिणत होजाया करते हैं, तदुत्तरक्षण में पुनः किसी अन्य ही स्वरूप में आते रहते हैं, इसप्रकार अव्यक्त-व्यक्त-पुनः--अव्यक्त- फिर व्यक्त-पुनः-अव्यक्त-इस रूप से क्षण क्षण में परिवर्त्तित बने रहते हुए जो कोई भी दृष्ट-श्रुत-वर्णित-उपवर्णित-भूत-भौतिक पदार्थ हैं, उन सब क्षणभावापन्न परिवर्त्तनशील पदार्थों को विज्ञानशब्द की सीमा में अन्तर्भुक्त मान सकते हैं। क्योंकि इत्थंभूत सभी पदार्थों में वैविध्य है, नानात्त्व है। अतएव अब हमें

असन्दिग्धरूप से यह कह ही देना चाहिए कि–जितना भी नानात्व प्रत्यय है, पार्थक्यबोध है, अनेकत्त्वदर्शन है, भेदानुगमन है, वह सब कुछ विज्ञानजगत् की सीमा से ही सीमित बना हुआ है।

तो यों नानात्त्व ही परिवर्त्तनशील तत्त्व हुआ, जिसे हम इस क्षण-क्षण-भावानुगत परिवर्त्तन के कारण गतिशील तत्त्व भी कह सकते हैं, क्रियातत्त्व भी मान सकते हैं। इसी आधार पर हमारे विशेष आग्रह से अब आप यह भी मान ही लीजिए कि, परिवर्त्तनभावात्मक गतितत्त्व से अभिन्ना बनी रहने वाली क्रिया तब तक स्वगतिरूप व्यापार के सञ्चालन में स्वस्वरूप से सर्वथा असमर्थ ही बनी रहती है, जब तक कि इसे अपना कोई निष्क्रिय धरातल उपलब्ध नहीं हो जाता। 'मुख' नाम का कोई स्थिर धरातल है, तब न आप तदाधार पर गलाधःकरणानुकूलव्यापारलक्षण भोजनक्रिया में समर्थ बनते हैं। स्पृश्य भूपिण्डात्मक अमुक भूक्षेत्र एक स्थिर आलम्बन है, तभी तो आप पादविक्षेपरूपा अपनी गति की अभिक्रम-प्रक्रमरूपा व्यूहनक्रिया में सफलता प्राप्त करते हैं। सर्वथा संसिद्ध है कि, प्रत्येक क्रिया के लिए, क्रिया के स्वरूपसञ्चालन के लिए क्रियास्वरूपव्यवस्था के लिए एक निष्क्रिय स्थिर धरातल नित्य अपेक्षित मानना ही पड़ेगा। और साथ साथ ही उस निष्क्रिय स्थिर धरातल के सम्बन्ध में आप को यह भी मान ही लेना पड़ेगा कि, वह आधारभूत आलम्बन-प्रतिष्ठातत्त्व क्रिया का अवारपारीण-ओरछोर का आधार बनता हुआ एकत्त्वधर्म्म से ही आक्रान्त है, जो कि नानात्त्व का, विविध क्रियाधाराओं का आलम्बन बनता हुआ भी स्वयं अपने रूप से नानात्त्व से पृथक् ही बना हुआ है। सुप्रसिद्ध वैय्याकरण भगवान् भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदी नामक ग्रन्थ में एक स्थान पर क्रिया के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—

"गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्धया प्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते" ॥

क्रियातत्त्व के सम्बन्ध में हम यह भलीभाँति जानते हैं कि, गतिशीला यह क्रिया अपनें त्तरधर्म्मानुबन्धी अव्यक्त-व्यक्त--तथा अव्यक्त-भावों के कारण त्रित्तणस्थायिनी है, अर्थात् मध्यस्थ व्यक्त त्तण की दृष्टि से एकत्तणस्थायिनी है, एवं अन्ततोगत्त्वा प्रतित्तण विलत्तण भावात्मक त्तणिक परिवर्त्तन के कारण व्यक्तावस्थापन्न मध्यस्थ त्तण के भी परिवर्त्तनात्मक ही रहने से एक त्तण भी स्थायिनी नहीं है। जबकि इस त्तणिक परिवर्त्तन के कारण,-जिस त्तणभाव का भी पर्य्यवसान अन्ततोगत्त्वा सुसूत्म परिवर्त्तन की अपेत्ता से आत्यन्तिक अग्राह्य अचिन्त्य-परिवर्त्तन भाव पर ही हो रहा है—तो ऐसी दशा में -"हम आते हैं, जाते हैं, बैठते हैं, सोते हैं, भोजन करते हैं" इत्यादि सर्वानुभूत वाग्-व्यवहारों से सम्बन्ध रखने वाले समूहालम्बनात्मक अखण्ड धारात्मक ज्ञान हमें किसके द्वारा कैसे उपलब्ध होरहा है, जबकि जो क्रिया अपनें त्तणभाव के कारण पूर्वत्तण में थी, उसका उत्तर त्तण में, इसका तदुत्तरत्तण सर्वथा अव्यक्तात्मक अभाव ही प्रमाणित होरहा है ?। दूसरे शब्दों में क्रियापुञ्जात्मक धारावाहिक इन नाना संस्कारों को किस एक अवारपारीण एक अविच्छिन्न पट ने अपने धरातल पर खचित-सञ्चित-प्रतिष्ठित रक्खा ?, इस प्रश्न का समाधानात्मक क्रियासन्तान संस्कारों का आधारात्मक समूहालम्बनज्ञानप्रवर्त्तक जो भी कोई अविछिन्न अवारपारीण एक पट होगा, उसे अवश्य ही नानाभावों से पृथक् ही वस्तुतत्त्व माना जायगा अवश्य ही उसे विविधभावापन्ना क्रियाओं से पृथक् एकरूप ही कहा जायगा। और क्योंकि वह एक रसात्मक है, अतएव उसे

हम अपरिवर्त्तनीय ही कहेंगे। अपरिवर्त्तनीय सनातन तत्त्व ही क्योंकि शाश्वत माना गया है। यही शाश्वतता क्योंकि इसका अमृतभाव है। अतएव अवश्य ही यहाँ आकर उस क्रियाधार एक तत्त्व को हम 'अमृत' शब्द से व्यवहृत कर सकेंगे। एवं इसी समन्वय के माध्यम से अब यह कहा जा सकेगा कि—

मृत्यु का नाम ही विज्ञान है, एवं अमृत का नाम ही ज्ञान है। मृत्युभावात्मक विज्ञान नानाभावापन्न है, एवं अमृत-भावात्मक ज्ञान एकत्वानुबन्धी है। जो एकत्वनिबन्धन ज्ञान की उपासना करते हैं, वे अमृतपक्ष का अनुगमन कर रहे हैं। एवं जो नानात्वनिबन्धन विज्ञान में प्रवृत्त हैं, वे मानो मृत्युपथ का ही आह्वान कर रहे हैं। और यही भारतीय विज्ञान शब्द का, एवं तत्सापेक्ष ज्ञानशब्द का एक प्रकार का समन्वय माना जा सकता है, माना जाता रहा है अव्यक्तोपासक सांख्यनिष्ठ ज्ञानमात्राभिनिविष्ट ज्ञानयोगियों की दृष्टि में ऐसा ही कुछ।

निश्चयेन अव्यक्तनिष्ठा में अभिनिविष्ट ज्ञानवादियों के अनुग्रह से ही प्राजापत्यशास्त्रसिद्ध ज्ञानसहकृत विज्ञानतत्त्व विगत कई एक शताब्दियों से भारतीय प्रज्ञा से सर्वथा पराङ्मुख ही बन गया है। सृष्टि विज्ञानात्मक कर्म्मों के त्याग पक्ष को ही प्रधानता दे बैठनें वाले सांख्य-निष्ठ ज्ञानवादियों की महती कृपा, किंवा महान् अभिशाप के ही दुष्परि-णामस्वरूप कर्म्माधारभूत समस्त वेदविज्ञान अभिभूत ही बन गया। रह गया शेष सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण, अतएव विज्ञानवञ्चित जैसा सुसूक्ष्म शुष्क ज्ञानवाद, जिसने एकहेलया सम्पूर्ण राष्ट्र को ही कल्पित-

जगन्मिथ्यत्त्ववाद जैसे महामोहसागर में ही निमज्जित कर दिया। यही कारण है कि, जिस भारतराष्ट्र की ऋषिप्रज्ञा ने अखण्ड ज्ञानप्रतिष्ठा के आधार पर सृष्टिस्वरूपसंरक्षक-लोकाभ्युदयप्रवर्त्तक-समस्त ऐश्वर्य्यसंसाधक सर्वप्रथम जिस विज्ञानसूर्य्य को अभिव्यक्त कर देने का महान् गौरव प्राप्त किया था, उसी ऋषिप्रज्ञा की दायादभोगकर्त्री वर्त्तमान भारतराष्ट्र की आस्तिक प्रज्ञा 'विज्ञान' शब्द श्रवणमात्र से भी आज उन्मुग्ध बन जाती है, जिसके परितोष के लिए ही हमें यहाँ 'विज्ञान' शब्द को भारतीय दृष्टिकोण से समन्वित कर देने की आवश्यकता प्रतीत हुई है।

'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' का अनुगमन कर बैठने वाला भारतीय जनमानस ज्ञानाभिनिवेश में आकर राष्ट्र की वैज्ञानिक-विभूतियों से कब से क्यों कैसे पराङ्मुख बन गया ?' कैसे इसकी चिरन्तन विज्ञाननिष्ठा आज विज्ञानशब्द-श्रवणमात्र से भी उन्मुग्धवत् बन जाने लगी ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान का यहाँ अवसर नहीं है। अन्य निबन्धों में इन सभी समस्याओं का ऐतिहासिक समन्वय किया जा चुका है। अतः प्रकृत में उस ओर न जाकर लक्ष्यीभूत विज्ञानशब्दार्थसमन्वय की ओर ही आप का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

अपने प्रकृतिसिद्ध वैविध्य से, नानात्त्व से विज्ञान का स्वरूपलक्षण परिवर्त्तनात्मक मृत्युभाव ही है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। ठीक ! तो क्या मृत्युतत्त्व भी मानव का कुछ उपकार कर सकता है ?, यह एक नवीन प्रश्न इस स्थिति में सहजरूप से ही उद्बुद्ध हो पड़ता है। विज्ञान यदि मृत्यु है, तो वह मानव के लिये सर्वथा हेय ही होना चाहिये

भारतीय ज्ञानाभिनिविष्ट भावुक मानवों की भाँति। ऐसा कौन मानव-जोकि शाश्वत अमरता का इच्छुक बना रहता है-इस अशाश्वत मृत्यु के साथ समालिङ्गन करना चाहेगा ?। मानना पड़ेगा कि, इस दृष्टि से तो मानव का उपास्य एकमात्र वह अमृततत्त्व (ज्ञानतत्त्व) ही हुआ, जिसकी प्राप्ति के अनन्तर मानव नानात्वनिबन्धन मृत्युपाशों से अहिकञ्चुकवत् विनिर्मुक्त हो जाया करता है। यही तो मानव का वह दृष्टिकोण था, जिसने 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति--य इह नानेव पश्यति' के वैज्ञानिक रहस्यार्थ से अनभिज्ञ भावाविष्ट भावुक भारतीय मानव को पूर्वकथनानुसार उस कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानात्मिका सांख्यनिष्ठा की ओर बलात् आकर्षित कर लिया, जोकि इत्थंभूत कर्म्मत्यागलक्षण विज्ञानत्यागानुगत अनार्ष दृष्टिकोण इस भारतीय मानव के, किंवा तद्द्वारा सम्पूर्ण भारतराष्ट्र के दुर्भाग्य का ही श्रीगणेश बन बैठा।

तो क्या हम विज्ञान शब्द के विमोहन में आकर जान बूझ कर प्रज्ञाशील मानवों को इस मृत्युमुख की ओर आकर्षित करें ?। क्या ऐसा करना पौरुषकोटि में अन्तर्भूत मान लिया जायगा ? । हम कहेंगे अवश्य। क्या 'मृत्युमाप्नोति-य इह नानेव पश्यति' इस वेदसिद्धान्त के ही विरोधी प्रमाणित न हो जायँगे हम इसप्रकार नानालक्षण विज्ञानभाव का अनुगमन करते हुए ?। नहीं। क्यों ? । इसलिए कि वेदसिद्धान्त ने मृत्यु के दर्शनमात्र का निषेध किया है, वर्त्तन का नहीं, जैसाकि-'य इह नानेव पश्यति' वाक्य से स्पष्ट है। समझे नहीं हम इस दर्शन-वर्त्तन का तात्पर्य्य ?। इसी बिन्दु पर तो प्राच्य, तथा प्रतीच्य संस्कृति-सभ्यताओं का वह दृष्टिकोण हमें समन्वित करना है, जिसके अभिभव से प्राच्य भारतराष्ट्र आज प्रतीच्य राष्ट्रों का अन्धानु-

रण करता जारहा है। दर्शन का दृष्टि से सम्बन्ध माना गया है, दृष्टि द्रष्टा पर अवलम्बित है, एवं मानव की अध्यात्मसंस्था में 'समनह्म' नाम से प्रसिद्ध आत्मा ही द्रष्टा माना गया है। द्रष्टा आत्मा की दृष्टिसे सम्बन्ध रखने वाला समदर्शन ही भारतीय परिभाषा में वास्तविक दर्शन माना गया है।

अब 'वर्त्तन' शब्द को लक्ष्य बनाइये। वर्त्तन का वृत्ति-आचरण-कर्म्म से सम्बन्ध माना गया है। कर्म्माचरणात्मिका वृत्ति बुद्धिमनःशरीर से समन्वित कायभाव पर अवलम्बित है। आत्मसाक्षी में प्रतिष्ठित बुद्धि-मनः-इन्द्रियवर्गानुगत पाञ्चभौतिक शरीर ही वर्त्तन का आधार माना गया है। आत्मयुक्त बुद्धि-मनः-शरीरेन्द्रियधर्म्मा मानव के आचार से व्यवहार से-कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाला विषम वर्त्तन ही भारतीय परिभाषा में वास्तविक वर्त्तन माना गया है। बुद्धिमनःशरीरेन्द्रियात्मक वही मानव लौकिक मानव है, एवं आत्मनिष्ठ वही मानव अलौकिक मानव है। आत्मनिष्ठ वही मानव समदर्शन का केन्द्रबिन्दु बना रहता है, एवं बुद्धिमनःशरीरेन्द्रियानुगत वही मानव विषमवर्त्तन का हृद्य बिन्दु बना रहता है। आत्मगर्भित बुद्धिमनःशरीरेन्द्रियात्मक अपने लौकिक स्वरूप से वही मानव नानाभावापन्न-प्रकृतिभेदभिन्न-विभिन्न व्यवहारों का वर्त्तन करता है, एवं यही इसका लोकपक्ष है। बुद्धिमनःशरीरेन्द्रिय-गर्भित अलौकिक आत्मस्वरूप से वही मानव अभिन्नभावापन्न समदर्शन का अनुगामी बना रहता है, एवं यही इसका अलौकिक आत्मपक्ष है। यों आत्ममूलक समदर्शन, तथा विश्वानुबन्धी शरीरमूलक विषमवर्त्तन, दोनों के समसमन्वयात्मक इत्थंभूत दृष्टिकोण से मानव आत्मानुबन्धी निःश्रेयस भी प्राप्त कर लेता है, एवं शरीरानुबन्धी अभ्युदय भी उपलब्ध

कर लेता है। 'समदर्शनतानुगत विषमवर्त्तन' ही भारतीय जीवन की मूलपरिभाषा है, जिसका लोकभाषा में यों स्पष्टीकरण सम्भव है कि- 'आत्मनिष्ठ मानव को सर्वत्र समदृष्टि ही रखनी चाहिए, एवं इस समदृष्टि को आधार बना कर ही इसे प्रकृतिभेदभिन्न लौकिक व्यवहारों में देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धादि के तारतम्य से विभक्त-व्यवस्थित रूप से ही प्रवृत्त रहना चाहिये'। आत्ममूलक इसी समदर्शन को लक्ष्य बना कर जहाँ भगवान् ने अपने गीताशास्त्र में—

"विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (गीता५।१८)।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ (गीता ६।२९।)।

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति ॥ (गीता६।३०)।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥" (गीता ६।३२)।

इत्यादि रूप से एकत्त्वनिबन्धन आत्ममूलक समदर्शन सिद्धान्त स्थापित किया है, वहाँ उसी गीताशास्त्र ने—

"ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां, शूद्राणां च परन्तप!।
कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ (गीता १८।४१)।

स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्म्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति, तच्छृणु ॥(गीता १८।४५)।

श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।। (गी०१८।४७)।

सहजं कर्म्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।। (गी०१८।४८)।

स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।(गी०१८।६०)।
स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः ।" (गी०३।३५)।

इत्यादि रूप से नानात्त्वनिबन्धन बुद्धिमनःशरीरेन्द्रियमूलक विषमवर्त्तन का ही समर्थन किया है । नानाभावात्मक, अतएव 'मृत्युसंसारवर्त्मनि' (गीता ६।३।) के अनुसार 'मृत्युसंसार' नाम से प्रसिद्ध इस प्राकृतिक पाञ्चभौतिक विश्व में विभिन्न प्रकृतियुक्त विभिन्न कर्म्मों का सर्वथा विभिन्न रूप से ही अनुष्ठानात्मक अनुवर्त्तन सम्भव है। प्रकृतिभेद व्यवहार के आधार पर परस्पर में सर्वथा विभक्त, अतएव एक दूसरे से विषम बने हुए कर्म्म ही तो तत्तत् पदार्थों की बाह्य प्राकृतिक संस्थाओं के स्वरूपरक्षक मानें गये हैं। यह प्रकृतिवैषम्य, तदनुगत कर्म्मवैषम्य, एवं तदनुप्राणित विभिन्नभावात्मक विषमवर्त्तन ही तो विश्व की स्वरूपव्याख्या है, जिस व्याख्या को ही 'विज्ञान' कहा गया है । यही वह प्राकृतिक विज्ञानसिद्ध धर्म्मभेद है, जो सनातन समभावापन्न आत्मब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित रहता हुआ 'सनातनधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि सर्वथा विज्ञान से सम्बद्ध है। जब कि इतर मतवाद केवल मानसिक कल्पना से प्रसूत बनते हुए इस धर्म्मपरिभाषा से एकान्ततः बहिष्कृत हैं। 'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' के अनुसार प्रकृतिभेदभिन्न विषम-

वर्त्तनात्मक यह धर्म्म ही तो प्राकृतिक विश्व की मूल प्रतिष्ठा माना गया है, जिसे निरपेक्ष मान बैठते ही मानव की स्वरूपप्रतिष्ठा का ही उच्छेद हो जाता है। जिस प्रकार वात-पित्त-कफ-इन तीनों धातुओं की समता-किंवा साम्य स्वास्थ्य की मूलप्रतिष्ठा माना गया है, तथैव सत्त्व-रज-स्तमोगुणमयी विश्वाधारभूता प्रकृति का वैषम्य ही विश्व की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। गुणों की साम्यावस्था तो प्रलय की अधिष्ठात्री बन जाया करती है। दूसरे शब्दों में विभक्त गुण-कर्म्मानुबन्धी विषमवर्त्तन को जब मानव कल्पित मानवता, कल्पित साम्यवाद के आवेश में आकर कल्पित समानवर्त्तन-समानाधिकार के व्यामोहन का अनुगामी बन जाता है, तो उसका स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाता है। एवं इत्थंभूता समवर्त्तनात्मिका समानाधिकारानुगति अन्ततोगत्त्वा विश्वस्वरूप की ही उच्छेदिका प्रमाणित हो जाती है। और यहाँ आकर हमें यह मान ही लेना पड़ता है कि-आत्ममूलक समदर्शनात्मक एकत्त्व पर आस्थित मानव शरीरमूलक विषम-वर्त्तनात्मक अनेकत्त्व का अनुगमन करता हुआ ही आत्मिक शान्ति लक्षण निःश्रेयस, एवं भौतिक समृद्धिलक्षण अभ्युदय, दोनों पुरुषार्थों से समन्वित हो सकता है। **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** । **'अविभक्तं विभक्तेषु'** इत्यादि के अनुसार सम्पूर्ण विभक्त भूतभावों में अविभक्त रूप से-समानरूप से प्रतिष्ठित रहने वाले सर्वव्यापक आत्मब्रह्म से अनुप्राणित अमृतलक्षण एकत्त्व जिस मानव की मूलप्रतिष्ठा बन जाता है, ऐसे समदर्शी मानव का प्रकृतिसिद्ध विभक्त लोकानुवर्त्तन उसे 'योगी' पद पर ही समासीन कर देता है। देखिये—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्त्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥

—गीता ६।३१।

"देखिए सबको एक दृष्टि से, आत्मदृष्टि से, समदृष्टि से, किन्तु व्यवहार कीजिए सब से पृथक् पृथक्" यही भारतीय ज्ञान-विज्ञानसम्मत तात्त्विक प्राच्य दृष्टिकोण है। समदर्शन से ज्ञानसम्पत्ति संसिद्ध है, तो विभिन्न वर्त्तन से विज्ञानसमृद्धि संसिद्ध है। 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन' से स्पष्ट ही समदर्शन आत्मभाव पर प्रतिष्ठित है; जिसका 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति, स पश्यति' इत्यादि से भी स्पष्टीकरण हुआ है। 'पण्डिताः समदर्शिनः' ठीक है। जिसका कदापि यह तात्पर्य्य नहीं है कि–'समवर्त्तिनः'। 'य इह नानेव पश्यति' इसप्रकार का विषमदर्शन ही मृत्युपाशबन्धन का कारण बना करता है, न कि नाना-वर्त्तन। यदि वर्त्तन को सम बना लिया जाता है, तो दर्शन स्वतः एव विषम बन जाता है। और ऐसी विपरीत दशा में विषमदर्शन से आत्मस्वरूप तो हो जाता है अभिभूत, एवं समवर्तन से शरीरस्वरूप हो जाता है उच्छिन्न। 'समवर्त्तना-नुगत विषमदर्शन' ही मानव के सर्वनाश का प्रधान कारण है। 'दृष्टि पृथक् है, व्यवहार समान है, यही मानव का दानवीयभाव है, किंवा पशुभाव है। आहार-निद्रा-भय—अन्यान्य ऐन्द्रियक व्यासङ्ग आदि में समानाचरणात्मक समवर्त्तन, किन्तु परस्पर सर्वथा विषमदृष्टिनिक्षेप, किंवा उपेक्षा, किंवा जड़ता, यही तो जड़तामूलक पशुभाव है। समाना-चरण से प्रकृति का स्वरूप उच्छिन्न, एवं विषमा दृष्टि से आत्मनिबन्धना शान्ति का पराभव। न आत्मशान्ति, न लोकाभ्युदय। अभ्युदय-निःश्रे-यस से शून्य, इत्थंभूत विषमदर्शनानुगत समवर्त्तन कदापि मानव की शान्ति-समृद्धि का कारण नहीं बन सकता, जिसे कि दुर्भाग्य से संगदोष से अपनाते हुये इस प्राच्य मानव ने अपना सभी कुछ अभिभूत कर लिया है, किंवा करता जा रहा है।

प्रसङ्ग चल रहा है—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति' इस श्रुति का। अवश्य ही नानादर्शन मृत्युपाशबन्धन का कारण है, जबकि नानावर्त्तन मृत्युपाश का निवर्त्तक ही बना करना है। स्थिति का सहजभाषा के माध्यम से थोड़ा और भी स्पष्टीकरण कर लिया जाय। क्या कोई ऐसा प्रकार है, ऐसी पद्धति है, जिसके द्वारा मृत्युरूप विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले लाभांशों से तो हम समन्वित होते रहें, एवं इससे सम्बन्ध रखने वाले हानिकर बन्धनों से, ध्वंसभावों से हम बचे रहें ?। यदि ऐसा कोई माध्यम हमें उपलब्ध हो जाय, तो अवश्य ही उस अवस्था में लाभोपयोगिता की दृष्टि से हम मृत्यु की, किंवा तद्रूप विज्ञान की भी उपासना कर सकते हैं। कारण स्पष्ट है। लाभ के लिए बुरी से बुरी उस वस्तु को भी अपनाया जा सकता है-उस दशा में, जबकि लाभप्रवर्त्तिका उस वस्तु की बुराइयाँ तो हमारे मनःक्षेत्र से समन्वित हों नहीं, एवं अच्छाइयों से हम वञ्चित रहें नहीं। कौनसा है वैसा शक्तिमान् माध्यम ?, इस प्रश्न का समाधान अब आपको स्वयं ही ढूँढ निकाल लेना है। वही माध्यम प्राच्य भारतीय परिभाषा में 'ज्ञान' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

यदि ज्ञान को आधार बना कर आप विज्ञान में प्रवृत्त होंगे, तो विज्ञानजनित जितने लाभांश हैं, उनसे तो आपका प्रज्ञाक्षेत्र समन्वित हो जायगा, एवं विज्ञानजनित जो भी क्षणिकभाव-मानव को मृत्युपाश की ओर आकर्षित करते रहते हैं, उनसे ज्ञानानुग्रह के द्वारा आपका सन्त्राण होता रहेगा। तात्पर्य्य यह निकला कि-आप अपने सम्पूर्ण विज्ञानवाद को, नानातत्त्ववाद को, भेदवादों को किसी एक अभिन्न तत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित करते हुए यदि विज्ञानवाद को सुव्यवस्थित कर देंगे, तो

यही विज्ञान-जो कि ज्ञानसहयोग से वञ्चित अपने प्रातिस्विकरूप से मृत्यु-पाशबन्धन का कारण बना रहता है—आपके लिए अमृतत्त्वप्राप्ति का अन्यतम साधन प्रमाणित हो जायगा, निश्चयेन प्रमाणित हो जायगा, यही इस आर्ष-भारतवर्ष की वह ऋषिदृष्टि है, वेददृष्टि है, सनातनधर्म्म-दृष्टि है, जो कि ज्ञात-अज्ञात अनेक कारणपरम्पराओं के निग्रहानुग्रह से शताब्दियों से ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों से विलुप्तप्राय प्रमाणित हो रही है।

वैविध्यरूप से जिस 'विज्ञान' शब्द का अब तक यशोगान हुआ है, उसी के सम्बन्ध में एक सुप्रसिद्ध वेदमन्त्र और उद्धृत हो रहा है, जिसके द्वारा विश्वेश्वर की इस विविधभावापन्ना विज्ञानविभूति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जाता है—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
—ऋक्संहिता ८।५८।२।

मन्त्र का 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' यह अन्तिम चरण है। यही विशेषरूप से अवधेय है। "इस चराचर पाञ्चभौतिक विश्व में जो विलक्षण प्रकार का वैविध्य देखा सुना जा रहा है, वह सब कुछ किसी एक ही तत्त्व का वैभव है" इस अक्षरार्थ से सम्बन्ध रखने वाला यह चरण किसी एक ही को अनेक का सर्जक प्रमाणित कर रहा है। उस एक से समुत्पन्न यह अनेकभाव ही उसका विश्वरूप है, महिमारूप है, विभूतिरूप है, जिसके लिए-'वि बभूव सर्वम्' घोषणा हुई है। इससे हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि **'किसी एक को मूल मानकर अनेक की**

ओर आना ही' विज्ञान शब्द का सहज पारिभाषिक अर्थ है। इसी के साथ ज्ञान शब्द की परिभाषा भी गतार्थ बन रही है। 'अनेक भावों को आधार बना कर किसी एक की ओर जाना' हीं ज्ञानशब्द की सहज परिभाषा है। एकत्त्व को उद्देश्य मान कर उसके स्थान में अनेकत्त्व का विधान करना जहाँ विज्ञानपक्ष है, वहाँ अनेकत्त्व को उद्देश्य मान कर तत्स्थान में एकत्त्व का विधान करना हीं ज्ञानपक्ष है। 'उस एक ब्रह्म से इस अनेकभावात्मक विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई ?, इस प्रश्न का समाधान करने वाला पक्ष ही विज्ञानपक्ष है। एवं 'ये सब अनेकभाव अन्ततोगत्वा उस एक भाव में कैसे परिणत रहते हैं ?' इस प्रश्न का समाधान करने वाला पक्ष ही ज्ञानपक्ष है। 'वहाँ से यहाँ तक कैसी स्थिति है', यही विज्ञानपक्ष है, एवं 'यहाँ से वहाँ तक कैसी स्थिति है', यही ज्ञानपक्ष है। एक को अनेक बना डालना हीं विज्ञान है, एवं अनेक को एक समझ लेना हीं ज्ञान है। एक ही बीज मूल-शाखा-प्रशाखा-पर्ण-मञ्जरी-पुष्प-फल-आदि रूप में जिस पद्धति से परिणत हो रहा है, इस रहस्य का विश्लेषण करना हीं विज्ञान है, एवं ये सब अन्ततोगत्वा उस एक बीज की ही विभूतियाँ हैं, यह जान लेना हीं ज्ञान है। एकत्त्वप्रतियोगिक-अनेकत्वानुयोगिक विज्ञान ही सृष्टि है, यही सर्ग है, यही सञ्चर है, और यही है विज्ञानविद्या का स्वरूपनिष्कर्ष। अनेकत्त्वप्रतियोगिक---एकत्त्वानुयोगिक ज्ञान ही प्रतिसृष्टि है, यही प्रतिसर्ग है, यही प्रतिसञ्चर है, और यही है ज्ञानविद्या का स्वरूपनिष्कर्ष। इन दोनों दृष्टिकोणों को जान लेने के अनन्तर मानव के लिए फिर कुछ भी तो जानना शेष नहीं रह जाता। इसी भाव को मूल बना कर भगवान् ने कहा है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।

—गीता ७।२।

'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'—अर्थात् 'वह ब्रह्म ही यह सब कुछ है, सब कुछ बन रहा है' यह श्रुति ब्रह्म को उद्देश्य मान कर जहाँ 'इदं सर्वं' रूप विश्व का विधान करती हुई विज्ञानपक्ष का समर्थन कर रही है, वहाँ—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**—अर्थात् 'यह सब कुछ अन्ततोगत्वा ब्रह्म ही है' यह श्रुति विश्व को उद्देश्य मान कर ब्रह्म का विधान करती हुई ज्ञानपक्ष का समर्थन कर रही है। इसीप्रकार **'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं—यदिदं किञ्च'** प्रजापति ही यह सब कुछ बना है, जो कि तुम देख रहे हो, इत्यादि श्रुति जहाँ विज्ञानपक्ष का अनुगमन कर रही है, वहाँ **'सर्वमु ह्यवेदं प्रजापतिः'**—यह सब कुछ अन्ततोगत्वा प्रजापति ही है, इत्यादि श्रुति ज्ञानपक्ष का ही अनुगमन कर रही है। एवमेव **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** श्रुति स्पष्ट शब्दों में जहाँ 'ज्ञान' स्वरूप को लक्ष्य बना रही है, वहाँ—**'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** श्रुति विस्पष्ट शब्दों में ब्रह्म के आनन्दमय विज्ञानस्वरूप का यशोवर्णन कर रही है, जिस वर्णन का उपनिषच्छ्रुति ने महता समारम्भेण में उद्घोष किया है कि—

"विज्ञानाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। विज्ञानमित्युपास्व"।

—तैत्तिरीयोपनिषत्

जिस ज्ञानानुगत भारतीय 'विज्ञान' शब्द का अब तक यशोगान हुआ है, एवं जिसका—**'विविधं-ज्ञानं-विज्ञानम्'** रूप से तटस्थलक्षण

व्यवस्थित हुआ है, अब उसके स्वरूपलक्षण के सम्बन्ध में भी दो शब्द निवेदन कर दिए जाते हैं। नानाभावनिबन्धन इस भारतीय विज्ञान की दो स्वतन्त्र धाराएँ वैदिक विज्ञानार्णव में प्रचण्डवेग से प्रवाहित हो रही हैं। सर्वप्रथम उन्हीं दोनों धाराओं को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए।

नानाभावात्मक स्वयं भूतविज्ञान प्रतिष्ठात्मक जिस ज्ञानतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है, क्या वह प्रतिष्ठातत्त्व शुद्ध निरपेक्ष ज्ञा रूप है ?, यह एक प्रासङ्गिक नूतन प्रश्न समुपस्थित हो पड़ा इसी प्रसङ्ग में हमारे सम्मुख। ऋषिदृष्टि ने इस प्रश्न का समाधान किया कि— नहीं ? यद्यपि भूतविज्ञान की अपेक्षा से इसका आधारतत्त्व ज्ञानात्मक ही माना जायगा, एवं इसी दृष्टि से इसे-'ज्ञान' शब्द से व्यवहृत भी कर दिया जायगा, तथापि स्वयं अपने रूप से इस आधारभूत ज्ञानतत्त्व को भी तत्त्वतः माना जायगा विज्ञानात्मक ही। यदि आधारभूत ज्ञान में विज्ञानधर्म्म न रहता, तो यह कदापि कथमपि विज्ञान का आधार बन ही नहीं सकता था। क्योंकि भूतविज्ञानसिद्धान्त के अनुसार एक सजातीय वस्तु ही अन्य सजातीय वस्तु की आधारभूमि बना करती है, बन सकती है। यही विज्ञानशास्त्र का सजातीयाकर्षणात्मक सहज सिद्धान्त है। केवल आधार, तथा आधेय भावों के पार्थक्य बोध की दृष्टि से ही हमें पूर्व में यह कह देना पड़ा था कि—'आधारभूत ज्ञानतत्त्व वैविध्य से पृथक् है, एवं विज्ञानतत्त्व वैविध्य से समन्वित है'। वस्तुतत्त्व तो वास्तव में यही है कि, एक ही तत्त्व के, दूसरे शब्दों में एक ही विज्ञान के दो विभिन्न दृष्टिकोण हैं-**ज्ञानात्मक विज्ञान, एवं विज्ञानात्मक विज्ञान।**

क्या तात्पर्य्य निकला इस दृष्टिकोण से ?। सुनिए! ज्ञानात्मक जो विज्ञान है, अब उसके लिए हमें अपने शास्त्र में नवीन पारिभाषिक शब्द

की खोज करनी पड़ेगी। एवं विज्ञानात्मक जो विज्ञान है, उसके लिए भी एक नवीन ही पारिभाषिक शब्द का अन्वेषण करना पड़ेगा। खोज का काम कोई आपकी, अथवा तो हमारी यथाजाता मानवप्रज्ञा से सुलभ न बन सकेगा। अपितु इसके लिए भी ऋषिप्रज्ञा की ही शरण में जाना पड़ेगा, जहाँ से यथयावत् आर्ष-पारिभाषिक शब्द सुलभतया प्राप्त हैं। निर्भ्रान्ता पुराणीप्रज्ञा के अन्वेषणस्वरूप ऋषियों नें इन दोनों विज्ञानभावों के लिए क्रमशः दो शब्द व्यवस्थित किए हैं। ज्ञानात्मक विज्ञान के लिए नियत शब्द है—'ब्रह्म,' एवं विज्ञानात्मक विज्ञान के लिए नियत शब्द है—'यज्ञ'। ये ही वे स्वतन्त्र दो विज्ञानधाराएँ हैं, जिनका पूर्व में उपक्रम हुआ है।

तो अब दो प्रकार के विज्ञान आपके सम्मुख उपस्थित हुये-ब्रह्म-विज्ञानधारा, एवं **यज्ञविज्ञानधारा,** के रूप से। आपने यह अनुभव किया होगा कि, आरम्भ में सापेक्ष विज्ञानशब्द की अपेक्षा को उपशान्ति के लिये जो ज्ञानशब्द आपके सम्मुख रक्खा गया था, उसे शनैः शनैः स्मृतिगर्भ में विलीन करते हुये यहाँ आकर उस ज्ञानशब्द का पर्य्यवसान भी हमनें यों विज्ञानशब्द पर ही मान लिया। ब्रह्मशब्दानुगत ब्रह्मविज्ञान, एवं यज्ञशब्दानुगत यज्ञविज्ञान, इन दोनों नवीन पारिभाषिक शब्दों के द्वारा अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, सम्पूर्ण विश्व का जो प्राकृतिक स्वरूप है, वह तो यज्ञविज्ञानात्मक है। इस यज्ञविज्ञानात्मक प्राकृतिक विश्व की जो मूल प्रतिष्ठा है, वही ब्रह्मविज्ञानात्मिका है। ब्रह्म-विज्ञान को प्रतिष्ठा बनाए बिना यज्ञविज्ञान जहाँ अपने स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त्युन्मुख बन जाता है, वहाँ एकाकी यज्ञविज्ञान कामासक्तिमूला लोकैषणाओं का समुत्तेजक बनता हुआ विश्वस्वरूपसंरक्षण के स्थान में विश्व-स्वरूपविनाश का ही कारण बन जाता है।

ऋषिदृष्टि न तो विश्वविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान का ही विरोध करती एवं न यज्ञविज्ञान के द्वारा सञ्चालित भूतविज्ञान के साथ ही ऋषिप्रज्ञा का कोई अश्वमाहिष्य । वह तो विरोध करती है केवल प्रतिष्ठा-वञ्चना का। ऋषिदृष्टि मानो हमें यही कह रही है कि,-"तुम्हारा यह यज्ञविज्ञान, तदाधारेण प्रतिष्ठित भूतविज्ञान ब्रह्मविज्ञानात्मिका प्रतिष्ठा से वञ्चित होकर अपने प्रातिस्विक मृत्युरूप में परिणत न हो जाय, ऐसा मृत्युप्रधान तुम्हारा यह प्रतिष्ठाशून्य विज्ञान कहीं तुम्हारा संहार ही न कर डाले। अतएव प्रत्येक दशा में तुम्हें ब्रह्मविज्ञान के आधार पर ही भूतविज्ञान का आतान-वितान करते रहना चाहिये ।"

तदित्थं, हमें यह मान लेना पड़ा कि, ब्रह्मविज्ञान, तथा यज्ञविज्ञान, ये दो विवर्त्त भारतीय विज्ञानकाण्ड के स्वतन्त्र दो मूल स्तम्भ प्रमाणित हो रहे हैं। पुनः इस सम्बन्ध में हमें आप से यह आवेदन कर देना पड़ेगा कि, जिस प्रकार विज्ञान शब्द के अर्थसमन्वय के लिए स्वयं 'विज्ञान' शब्द ही लक्ष्य बना था, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म, तथा यज्ञ, इन दोनों विज्ञानधाराओं के स्वरूपपरिचय के लिए भी अन्यत्र अनुधावन न कर स्वयं ब्रह्म-यज्ञ-शब्दों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा। कदापि इस दृष्टिकोण को विस्मृत न किया जा सकेगा कि, "प्रत्येक तत्त्व का वाचक स्वयं शब्द ही उस वाच्य अर्थ का मौलिक चिरन्तन इतिहास अपने गर्भ में अन्तर्भुक्त रखता है, जोकि शब्देतिहासविज्ञान भी अन्यान्य विज्ञान-विलुप्तियों के साथ आज दुर्भाग्यवश विलुप्त हो चला है।" हाँ, तो क्या अर्थ है 'ब्रह्म' शब्द का ?, एवं क्या अर्थ है 'यज्ञ' शब्द का ? । अन्वेषण कीजिए।

यह बहुत सम्भव है कि, यज्ञ शब्द का चिरन्तन इतिहासात्मक अर्थ भारतीय प्रज्ञा में आज तक निर्भ्रान्तरूप से येन केन रूपेण प्रतिष्ठित बना

रह गया हो, किन्तु ब्रह्म शब्द के ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण पारिभाषिक अर्थ से तो आज की भारतीय प्रज्ञा सर्वथा ही पराङ्मुख प्रमाणित हो रही है। कारण इस पराङ्मुखता का यही है कि, वेदशास्त्र का 'ब्रह्म' शब्द निगमभाव से अणुमात्र भी सम्बन्ध न रखता हुआ केवल अनुगमभाव से ही प्रधान सम्बन्ध रख रहा है। अब आप यह प्रश्न कर बैठेंगे कि, ये निगम–अनुगम नाम के दो नवीन शब्द क्या अर्थ रखते हैं ?। प्रश्न-समाधान के लिए यहाँ यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि—'जो शब्द किसी नियत अर्थ का प्रतिपादन करता है, वह शब्द 'निगमशब्द' कहलाया है। एवं जो शब्द अपने वाच्यार्थ को अनेक स्थलों में समन्वित करने की क्षमता रखता है, वह शब्द 'अनुगमशब्द' कहलाया है'।

उदाहरण के लिए–प्राण–प्रजापति–षोडशी–चतुष्टय–त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–सप्तदश–आदि आदि शब्द किसी नियत अर्थ का संग्रह न करते हुए जहाँ जहाँ इन शब्दों के व्यङ्ग्यार्थ–किंवा वाच्यार्थ–किंवा शब्दार्थ समन्वित हो जाते हैं–उन सब स्थलों का समन्वय करते हुए सर्वत्र अनुगत बने रहते हैं, एवं यही इनका अनुगमभाव है। इसी दृष्टि से प्रजापति शब्द अग्नि–वायु–इन्द्र–वरुण-धाता–आदित्यादिभेद से असंख्य तत्त्वों का संग्राहक बन रहा है। अग्नि–वरुण–इन्द्र–त्वष्टा–आदि आदि शब्द तद्वाच्य नियत अर्थों में ही निरूढ़ रहते हुए निगमशब्द हैं। प्रकृत का 'ब्रह्म' शब्द क्योंकि अनुगमभावात्मक है। अतएव एक स्थान पर वही ब्रह्मशब्द यदि 'भूत' के लिए प्रयुक्त है, तो दूसरे स्थान में भूतातीत आत्मा के लिए भी ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। कहना न होगा कि, वेदशास्त्र की रहस्यपूर्णा इन निगम–अनुगम–परिभाषाओं के अभितभू हो

जाने का ही यह दुष्परिणाम है कि, भारतवर्ष में विगत कुछ एक शताब्दियों में वेद के जितनें भी भाष्यकार, एवं टीकाकार हुए हैं, सभी ने वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक सुनिश्चित भी तत्त्ववाद को सन्देहनिवृत्ति के स्थान में सन्देहप्रवृत्ति का ही कारण प्रमाणित कर दिया है। एवं एकमात्र इसी प्रज्ञापराध से सभी युगों के लिए महान् उपयोगी भी ज्ञानविज्ञानात्मक वेदशास्त्र हमारे लिए केवल अर्चनीया प्रतिमा ही बना रह गया है, जिस इत्थंभूता दशा, किंवा दुर्दशा के लिए प्रस्तुत 'ब्रह्म' शब्द का निदर्शन ही पर्य्याप्त होगा।

आज 'ब्रह्म' शब्द अपने पारिभाषिक अनुगमभावों से वञ्चित रहता हुआ ऐसा भ्रामक बन गया है कि, सर्वत्र एकहेलया यह शब्द विश्वातीत--अखण्ड--अनवच्छिन्न-अद्वय-निर्गुण-निरञ्जन-निर्द्धर्म्मक-किसी व्यापक तत्त्व की ओर ही भारतीय मुग्धप्रज्ञा का ध्यान आकर्षित करने वाला रह गया है। यही कारण है कि—'ब्रह्म की उपासना करो, ब्रह्मार्पणभाव प्राप्त करो, ब्रह्म ही सर्वाधार है' इत्यादि वाक्यों का सीधा सा समन्वय विश्वातीत अचिन्त्य-अनुपास्य-निराधार-तत्त्व पर ही परिसमाप्त है। जिस विश्वातीत ब्रह्म का ज्ञान-उपासना-कर्म्म-भक्ति-विज्ञान-आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो बुद्धि-मन-इन्द्रिय-व्यापारों से सर्वथा पराःपरावत है, जो सर्वथैव निरपेक्ष है, ऐसे ब्रह्म को अग्रणी बना कर ही शास्त्रीय 'ब्रह्म' शब्द का समन्वय करने के लिए आतुर बने रहने वाले अभिनव व्याख्याताओं के इसप्रकार के ब्रह्मव्यामोहन से ही आज भारतीय आर्षप्रजा आचारधर्म्मात्मक समस्त कर्म्मकलापों से अपने आपको तटस्थ-उन्मुक्त-ही प्रमाणित कर बैठी है, जैसाकि-'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' इत्यादि लोकप्रचलित आभाणक से स्पष्ट है।

हमें आश्चर्य हो रहा है नितान्त भावुकतापूर्ण उस भारतीयप्रज्ञा के इत्थंभूत ब्रह्मव्यामोहन को देख-सुन कर-जिसके कि सम्मुख ब्रह्मशब्द की अनुगात्मिका सहज व्याख्याएँ सर्वथा विस्पष्ट शब्दों में स्वयं मूलग्रन्थों में हीं उपलब्ध होती रहीं, और फिर भी यह भावुक प्रज्ञा 'ब्रह्म' शब्द के व्यवस्थित-पारिभाषिक-अनुगमात्मक-समन्वयों में यों गजनिमीलिका का अनुगमन करती रही, एवं किसी भी पारिभाषिक-मौलिक-निष्ठादृष्टि से इसने शब्दार्थसमन्वय के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। उदाहरण के लिए गीता के 'ब्रह्म' शब्द को ही माध्यम बना लेना पर्य्याप्त होगा। गीता में एक स्थान पर 'ब्रह्म' शब्द के स्वरूपविश्लेषण से सम्बन्ध रखने वाला एक वाक्य आता है—**'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'**, जिसका अक्षरार्थ होता है-**'ब्रह्मतत्त्व अक्षर से समुत्पन्न है'**। अक्षर से 'उत्पन्न' होने वाला(ध्यान दीजिए-'समुद्भूतम्'-पर) तत्त्वविशेष ही 'ब्रह्म' नामक पदार्थविशेष, किंवा तत्त्वविशेष है। 'समुद्भवम्' शब्द 'समुत्पत्ति' से सम्बन्ध रखता है, उत्पत्ति का क्षरात्मक विनाशी भूत-भौतिक प्रपञ्च से ही सम्बन्ध है। स्पष्टतमरूप से प्रमाणित है कि उक्त वाक्य में पठित, अक्षर से उत्पन्न होने वाला 'ब्रह्म' तत्त्व किसी भूतभाव की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। गीता के व्याख्याता भाष्यकर्त्ता-एवं, टीकाकार ब्रह्मवादी आचार्य्यों ने प्रस्तुत वाक्य के 'ब्रह्म' शब्द का कैसा, और क्या समन्वय किया होगा?, इस प्रश्न के सम्बन्ध में—**'वृद्धास्ते न विचारणीय-चरिताः, तिष्ठन्तु हुं वर्त्तताम्'** पक्ष ही हमारे लिए श्रेयःपन्था है।

''कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ गीता ३।१५।

ब्रह्मैवेदं सर्वम् ।
सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः, तत्तु समन्वयात्'
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
—गीता

इत्यादि आर्ष–श्रौत स्मार्त्त वचनों में पठित 'ब्रह्म' शब्द क्या किस अनुगमभाव से सम्बन्ध है ?, इस प्रश्न का समाधान तत्सहयोगी अन्य शब्दों से सर्वथा स्पष्ट है। 'सर्वम्' अगुली निर्देश से सम्बन्ध रखने वाले भूतप्रपञ्च की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, न कि किसी अचिन्त्य विश्वातीत तत्त्व की ओर। "यह सब कुछ ब्रह्म है, एवं ब्रह्म ही सब कुछ बना है" इत्यादि वाक्यों में पठित ब्रह्म शब्द का यही सहज अर्थ है कि, "यह सम्पूर्ण भूत–भौतिक प्रपञ्च अक्षर से उत्पन्न होने वाले किसी विशेषतत्त्व का ही उपबृंहणभाव है। एवं इस उपबृंहण धर्म्म से ही वह विशेषतत्त्व 'ब्रह्म' कहलाया है। अर्थात् सम्पूर्ण विश्व क्षरात्मक ही है। इसी सहज अर्थ में उक्त वाक्यों के ब्रह्म शब्द का समन्वय हो रहा है। मान लेना चाहिए कि, विज्ञानशब्द के साथ, किंवा विज्ञानात्मक भूतभौतिकभावापन्न शब्दों के साथ जहाँ जहाँ 'ब्रह्म' शब्द उपात्त हो, वहाँ वहाँ सर्वत्र ब्रह्म शब्द यज्ञविज्ञानात्मक विश्वविज्ञान के प्रभवभूत क्षरब्रह्म का ही समर्थक बना रहेगा। इसी तथ्य के आधार पर हमें लक्षीभूत 'ब्रह्मविज्ञान' शब्द के ब्रह्मशब्द का समन्वय ढूँढना पड़ेगा। इस समन्वयदृष्टि के आधार पर पूर्व स्थलों के 'ब्रह्म' शब्दों का यही निष्कर्ष निकलेगा कि "सोपाधिक नानाभावप्रवर्त्तक अतएव बीजरूप से नानाभावों

स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला वैकारिक विश्व का आधारभूत-प्रकृतिभूत तत्त्व ही ब्रह्म पदार्थ है, जो विश्वविज्ञानदृष्ट्या 'ज्ञान' उपाधि से व्यवहृत रहता हुआ भी विश्वविज्ञानप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान बनता हुआ स्वयं भी नानाभावनिबन्धन विज्ञानभाव से ही समन्वित है"। तभी तो यज्ञविज्ञानापेक्षया ब्रह्मज्ञानात्मक भी इस तत्त्व को 'ब्रह्मविज्ञान' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है।

यह पूर्व में निवेदन किया जा चुका है कि, जो विश्वातीत, अतएव निरपेक्ष शुद्ध ज्ञान तत्त्व है, वह 'पदार्थ' सीमा से एकान्ततः असंस्पृष्ट रहता हुआ यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में हीं निरूढा शब्द-मर्य्यादा से भी सर्वथा ही असंस्पृष्ट है। अतएव उसके लिए न ज्ञान शब्द है, न ज्ञाता शब्द है, नापि विज्ञान शब्द। प्रकृत में जिस ब्रह्म को हमनें 'ज्ञान' शब्द से व्यवहृत किया है, वह भी तत्त्वतः विज्ञानात्मक सापेक्ष ज्ञान शब्द से ही सम्बन्ध रख रहा है। अतएव विज्ञानात्मक ज्ञान ही इस ब्रह्मज्ञानात्मक ज्ञानशब्द से व्यक्त हुआ है। स्मरण कीजिए विज्ञान-शब्दानुबन्धी 'वि' उपसर्ग के हमनें पूर्व में **विशेष**, तथा **विविध** दो अर्थ किए हैं। इन दो उपसर्गों के कारण विशेषज्ञान भी विज्ञान कहला सकता है, एवं विविध ज्ञान भी विज्ञान कहला सकता है। यहीं कुछ थोड़ा विशेषरूप से समझ लेना है। **वैशिष्ट्य जहाँ क्षरात्मक मूलब्रह्म का स्वरूपधर्म्म है, वहाँ वैविध्य विकारात्मक मूलविश्व का स्वरूप-धर्म्म माना गया है।** सम्पूर्ण विशेषभावों को, सम्पूर्ण नानाभावों को, किंवा सम्पूर्ण विश्वभूतों को तत्तद्भूतों की प्रातिस्विक विशेषता से अक्षुण्ण बनाए रखने वाला आधारभूत क्षरब्रह्म ही है, और यही इसका विश्वापेक्षया महान् वैशिष्ट्य है। इसी महान् वैशिष्ट्य के कारण यह मूलभूत क्षरब्रह्म

ही 'विशेष' तत्त्व प्रमाणित हो रहा है। और इसी विशेषता के अनुर
से हम इस ब्रह्म को विशेषभावात्मक ब्रह्म कहेंगे, एवं यही इसका 'विशे
ज्ञानम्' लक्षण विज्ञानतत्त्व होगा, जो कि विविध ज्ञानात्मक विश्वविज्ञान
के समतुलन में अवश्य ही अपनी एक विशेष विशेषता रख रहा है।

क्या है ब्रह्मविज्ञानात्मक ज्ञान की वह विशेषता ?। उत्तर उक्तप्राय है। यच्चयावत् नानाभावों को-विशेषभावों को-भूतभावों को स्वाधार प्रतिष्ठित रख लेना क्या साधारण विशेषता है ?। नहीं। अपितु यह तो असाधारण विशेषता है, जो कि किसी भी भौतिक पदार्थ में उपलब्ध नहीं होती। दूसरी सबसे बड़ी विशेषता है इस क्षरब्रह्म की नित्यकूटस्थता। क्षरब्रह्म विश्व का उपादान माना गया है उसी प्रकार से, जैसे कि दुग्ध-लोह-मिट्टी-आदि शर-थर-मलाई-किट्ट-जँग-घटादि के उपादान मानें गए हैं। देखते हैं कि दूध मलाई बन कर अपने दुग्ध स्वरूप से विलीन हो जाता है। जँगरूप में परिणत लोहा लोहा नहीं रह जाता। घट रूप में परिणत मिट्टी अपने मिट्टी के रूप से तिरोहित हो जाती है। क्या ऐसा ही कार्य्यकारणभाव है इस उपादानभूत ब्रह्म का ?। नहीं। एक ही विश्व क्या, ऐसे ऐसे अनन्त विश्वों को विकाररूप से उत्पन्न करता हुआ भी उपादानरूप वह क्षरब्रह्म स्वस्वरूप से वैसा ही अक्षुण्ण बना रहता है, जैसा कि विकारोत्पत्ति से पूर्व। यही तो इस क्षरब्रह्म की वह नित्य महिमा है, जिसके आधार पर एकदेशी 'अविकृतपरिणामवाद' नामक सिद्धान्त जागरूक हो पड़ा है। न यह विश्वोत्पत्ति से क्षीण होता, न विश्वाभाव में इसकी आयतनवृद्धि ही होजाती। इसी महान् वैशिष्ट्य को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते, नो कनीयान्।

इस नित्यमहिमा-अविकृतमहिमारूप महान् वैशिष्ट्य से ही इसे

विशेषरूपेण विशिष्ट मान लिया गया है। इसी नित्यभाव की अपेक्षा से इस मूलब्रह्मात्मक ज्ञान को **'नित्य-विशिष्ट-ज्ञान'** कहा गया है। इसी मूलब्रह्मज्ञान के साथ विज्ञान शब्द के विशिष्टभावसूचक 'वि' उपसर्ग का सम्बन्ध माना जायगा। एवं इसी आधार पर इस चरब्रह्मात्मक सापेक्ष ज्ञान को—**'विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम्'** इस प्रथम लक्षण के अनुसार 'विज्ञान' शब्द से व्यवहृत किया जायगा। कैसा है यह विज्ञान ?, अनन्त विश्वविकारों को अनवरत उत्पन्न करता हुआ भी स्वस्वरूप से सर्वथा नित्य अतएव अपने इस स्वमहिमाभाव से सर्वथा नित्य **'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** यह श्रुतिवचन इसी नित्य महिमारूप विशिष्टतम चरब्रह्म का ही निरूपण कर रहा है। दूसरा लक्षण है—'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्', जिसका भौतिक विश्वात्मक 'यज्ञविज्ञान' से सम्बन्ध माना जायगा। यज्ञात्मक विकारविज्ञान ही वैकारिक निरूढ पदार्थों का स्वरूपसम्पादक बनता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि, यह यज्ञविज्ञानात्मक विविध भावापन्न विकारविज्ञान ही वैकारिक-भूतों का प्रवर्त्तक है। **'विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'** इत्यादि श्रुतिवचन इस वैविध्यभावापन्न विकारविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। ब्रह्मविज्ञानात्मक ज्ञान केवल 'ज्ञातव्य' है, जिसका न उपासना से सम्बन्ध, एवं न कर्म्माचरण से। अतएव ब्रह्मविज्ञान को जहाँ विजिज्ञास्य कहा जायगा, वहाँ यज्ञ-विज्ञान उपास्य माना जायगा, जैसा कि सम्भवतः आगे चलकर स्पष्ट हो सकेगा। इसी लिए श्रुति ने–'विज्ञानाद्ध्येव०' इत्यादि रूप से उपक्रान्त यज्ञविज्ञान का–**'विज्ञानमित्युपास्व'** रूप से ही उपसंहार किया है। **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** रूप से ब्रह्मविज्ञान का जिज्ञासा से ही सम्बन्ध

है। क्योंकि यह केवल 'ज्ञातव्यविज्ञान' है, जब कि ब्रह्मविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित यज्ञविज्ञान उपास्य बन रहा है। इसप्रकार इन दोनों विज्ञानधाराओं के साथ क्रमशः विशेषभावापन्न प्रथम लक्षण, एवं विविध-भावापन्न द्वितीय लक्षण का यथाव्यवस्थित समन्वय हो रहा है, जिसे विस्मृत कर सचमुच हमनें सभी कुछ विस्मृत कर दिया है।

बतलाया गया है कि, ब्रह्मविज्ञानात्मक मौलिक विज्ञान के लिए ही सापेक्ष 'ज्ञान' शब्द व्यक्त हुआ है। कैसा सापेक्ष विज्ञान ?, जो सम्पूर्ण विश्व का, किंवा यज्ञात्मक भूतों का मूलविज्ञान है। समस्त विश्व पाञ्च-भौतिक विवर्त्त माना गया है। इस भौतिक जगत् की मौलिक परिभाषाएँ, मौलिक समन्वय जिस मूल आधार पर सुव्यवस्थित हैं, विश्वाधारभूत-क्षरनिबन्धन-वह मौलिक तत्त्व ही यहाँ 'ब्रह्मविज्ञान' कहलाया है, यही ब्रह्मशब्द का विस्पष्टतम वह वाच्यार्थ है, जिसकी पर्य्यवसानभूमि है-'क्षरब्रह्म'।

तात्पर्य्य यह हुआ कि-क्षरविज्ञान का ही नाम 'ब्रह्मविज्ञान' है। ज्ञानशब्दानुगता प्रश्नोत्तरविमर्श-चर्चा के प्रसङ्ग से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्तुत वक्तव्य के इस उपसंहारस्थल में हमसे यह प्रश्न हुआ था कि-वेद में-जो-**'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस०'** इत्यादि रूप से ब्रह्मशब्द आया है, क्या उसका भी इसी क्षरब्रह्म से सम्बन्ध है ?। इस प्रासङ्गिक प्रश्न का उस समय जो समाधान हुआ था, वह भी प्रसङ्गधिया समन्वित कर लेना चाहिए हमनें प्रश्न का तात्कालिकरूपेण यही उत्तर दिया था कि-नहीं, सर्वथा नहीं। 'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष०' इत्यादि मन्त्र तो तैत्तिरीय ब्राह्मण का है, जिसकी उत्थानिका हुई है स्वयं ऋग्वेद में-**'किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस'** इत्यादि रूपसे। मन्त्र का अविकल रूप यह है-

किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥
—ऋक्सं १०।८१।४।

"वह ऐसा कौन सा जङ्गल था, उस जङ्गल में वह ऐसा कौन सा वृक्ष था, जिसे काट-छाँट कर यह द्यावापृथिवीरूप लोकभवन निर्म्मित हो गया ?। मैं (वेदमहर्षि) मनीषी-तत्त्वज्ञ विद्वानों से अपने मन से (श्रद्धापूर्वक) ही यह पूँछ रहा हूँ कि, जिस किसी उस तत्त्व नें-यों उस जङ्गल के वृक्ष से काट छाँट कर बन जाने वाले लोकों को अपने ऊपर धारण कर लिया, उस का क्या स्वरूप है ?," यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। ऋग्वेद नें प्रश्नमात्र का उत्थान किया, किन्तु कोई समाधान नहीं किया इस प्रश्न का। क्यों ?। क्या कोई उत्तर नहीं है इस प्रश्न का ?। अवश्य ही उत्तर है। एवं रहस्यगभीरा ऋषिभाषात्मिका मन्त्रभाषा ने उत्तरगर्भित प्रश्न के माध्यम से ही प्रश्न करने के साथ साथ ही उत्तर का भी स्पष्टीकरण कर दिया है। क्या व्यक्तभाषा में पृथक्रूप से प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता था ?। नहीं। इसलिए 'नहीं' कि वन, वृक्ष, एवं वृक्ष के तक्षण इन तीन भावों में से वन तथा वृक्ष, इन दो तत्त्वों का सर्वथा अनिरुक्त भाव से ही सम्बन्ध है। एवं अनिरुक्त-अव्यक्त-भावोंके स्पष्टीकरण में निरुक्ता व्यक्ता वाक् सर्वथा असमर्थ है, जब कि ऐसी निरुक्ता व्यक्ता वाक् उस तत्त्व के व्यक्तरूप तक्षणभाव का ही स्पष्टीकरण करनें की क्षमता रखती है। सुप्रसिद्ध है कि-मन, और वाक् के पारस्परिक अहं-श्रेयोरूप विवाद में प्रजापति ने अव्यक्त मन का ही पक्षपात किया। मन कहता था-मैं बड़ा हूँ इसलिए वाक् से कि, यदि मैं, किंवा मेरा संकल्प न हो, तो वाक् कुछ भी स्पष्ट करने में समर्थ न बनें। उधर वाक् कर रही थी

कि, मैं बड़ी हूँ तुम से इसलिए कि, यदि मैं न रहूँ तो तुम्हारा संकल्प केवल संकल्प ही बना रह जाय। मैं ही उसे व्यक्तरूप प्रदान करती हूँ। यही दोनों का अहंश्रेयोभाव था, अहमहमिकालक्षणा वह प्रतिद्वन्द्विता थी, जिसका ये दोनों ही परस्पर समन्वय करनें में असमर्थ थे। दोनों निर्णयजिज्ञासा से प्रजापति की शरण में जाते हैं। एवं प्रजापति यही निर्णय कर देते हैं कि, 'तुम दोनों में मन ही श्रेष्ठ है'। इस निर्णय से वाक् रुष्ट हो जाती है। और यह प्रजापति के सम्मुख अपना यह आक्रोश अभिव्यक्त कर डालती है कि-'अहव्यवाट्-एवाहं तुभ्यं भूया-सम्'। अर्थात् हे प्रजापते! मैं कभी आपके लिए हव्य का वहन न करूँगी। तात्पर्य्य, मेरे व्यक्तरूप से आपको कभी आहुति नहीं मिलेगी। कहते हैं, इसीलिए यज्ञ में प्रजापति के लिए उपांशुभाव से-तूष्णींभाव से-बिना मन्त्रोच्चारण के ही आहुति दी जाती है। (देखिए शत० ब्रा० १।४।५।१२)।

बड़ा ही रहस्यपूर्ण है यह व्याख्यान, जिसके इसी अंश का हमें प्रकृत में उपयोग करना है कि, हृदयस्थ अन्तर्य्यामी नामक प्रजापति ही अनिरुक्त प्रजापति है। 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति, नान्तरात्मन्' इत्यादि सिद्धान्तानुसार सभी इन्द्रियों की भाँति वागिन्द्रिय का प्रवाह भी केन्द्रस्थ अनिरुक्त प्रजापति से बहिर्मुख ही है। अतएव बहिर्म्मुखा व्यक्ता वाक् से केन्द्रस्थ इस हृद्य प्रजापति का स्वरूप कदापि स्पष्ट नहीं होसकता। इसी सहज- सिद्ध तत्त्व के आधार पर प्रजापति के स्वरूप-प्रदर्शन के लिए अनिरुक्तभावप्रधान वाग्व्यवहार ही उपयुक्त मानें गये हैं। 'क' कार अनिरुक्तभाव का ही संग्राहक है। 'कौन' इस शब्द से अव्यक्त भाव ही

प्रतिध्वनित है। इसी अव्यक्तभाव के अनुबन्ध से अनिरुक्त प्रजापति का साङ्केतिक नाम मान लिया गया है-'क' (ककार)। कः प्रजापति ?, प्रश्न का यदि अनिरुक्त भाव से सम्बन्ध है, तो उत्तर भी 'कः प्रजापति' ही होगा।

"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" ॥

इत्यादि यजुर्म्मन्त्र के 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' ? इस प्रश्न का उत्तर भी यही होगा। प्रश्नदशा में 'कस्मै' का अर्थ होगा 'किसके लिए हम आहुति प्रदान करें ?, एवं उत्तरदशा में 'कस्मै' का अर्थ होगा-'ककार व्याहृति से युक्त प्रजापति के लिए हम आहुति प्रदान कर रहे हैं, यह। यही उत्तरगर्भिता प्रश्नश्रुति कहलाएगी, जिसका सुप्रसिद्ध केनोपनिषत् में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। केनेषितं पतति प्रेषितं मनः- अर्थात किससे प्रेरित होकर हमारा इन्द्रिय मन विषयानुगत बनता है ?, इस प्रश्न का उत्तर भी 'केनेषितं पतति प्रेषितं-मनः' ही है, जिसका अर्थ है-'ककार' नाम की अनिरुक्त व्याहृति से समन्वित हृदयस्थ अनिरुक्त अन्तर्य्यामी प्रजापति की प्रेरणा से ही हमारा मन स्व व्यापार में समर्थ बनता है। ठीक यही स्थिति 'किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस' इत्यादि उत्तरगर्भित प्रश्नात्मक मन्त्र के साथ समन्वित है। वह कौनसा वन था ?, प्रश्न का उत्तर होगा वह अनिरुक्त, अतएव 'किं' रूप ही वन था। इसी प्रश्नात्मक मन्त्र का तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रश्नोत्थानपूर्वक जो समाधान हुआ है, वहाँ भी अनिरुक्तात्मक अनुगमभाव का ही प्राधान्य है। लक्ष्य बनाइए उस समाधान मन्त्र को भी--

ब्रह्म वनं, ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥

—तै० ब्राह्मण।

"ब्रह्म ही वह जङ्गल था, ब्रह्म ही वह वृक्ष था, जिससे काट-छाँट कर यह विश्वभवन बन गया। हे विद्वानों ! मैं अपने मन से ही यह स्पष्ट कर रहा हूँ कि, ब्रह्म ने ही इस भुवनों को अपने आधार पर धारण कर रक्खा है।" जैसा 'क', वैसा 'ब्रह्म'। **'मनसा पृच्छतेदु'**, एवं **'मनसा वि ब्रवीमि वः'** दोनों ही वाक्य मनःप्रधान अनिरुक्त-अव्यक्त-भाव की ओर ही सङ्केत कर रहे हैं। यहीं वह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि, क्या यहाँ के ब्रह्म शब्द भी क्षरब्रह्मात्मक ब्रह्मविज्ञान के वाचक हैं ?। एवं हमनें कहा था कि नहीं, सर्वथा नहीं। क्यों ?। इसलिये कि वनब्रह्म भिन्न वस्तुतत्त्व है, वृक्षब्रह्म भिन्न वस्तुतत्त्व है, एवं कटा छँटा ब्रह्म पृथक् ही तत्त्व है। यह तीसरा ब्रह्म ही क्षरब्रह्म है, जो वृक्षब्रह्म का एक अल्पतम प्रत्यंश है। एवं स्वयं वृक्षब्रह्म जिसकी दृष्टि से अल्पतम प्रत्यंश है, वही पहिला 'किंस्विद्वनं' वाला वनब्रह्म है। अव्यय से अविभिन्न विश्वातीत परात्परब्रह्म ही 'वनब्रह्म' है, जिसे निरपेक्ष शुद्ध ज्ञानघन माना गया है। 'ब्रह्म वनम्' यह वाक्य जब भी हम बोलते हैं, एक निःसीम भाव की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है। अनन्त-विस्तारात्मक जङ्गल हमारी प्रज्ञा को थका देता है। यही स्थिति परात्पर की है। अतएव उसे 'वन' कहा जा सकता है, जिससे अव्यय भी अभिन्न है। एवं इस दृष्टि से समझने मात्र के लिये हम 'वन' कह सकते हैं। यहाँ मानव की बुद्धि परिसमाप्त है। अतएव **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** रूप से इस वन-ब्रह्म से समतुलित अव्ययब्रह्म को बुद्धिसीमा से असंस्पृष्ट मान लिया गया

है। इसी प्रकार जब 'ब्रह्म स वृक्ष आस' का उच्चारण करते हैं, तो हमारा प्रज्ञाक्षेत्र किसी सीमापर्य्यन्त सीमाभाव की थाह पा लेता है। विश्व की मूलप्रकृतिरूप अक्षर ही वह ब्रह्म है, जिसे विश्वसीमानुबन्ध से 'वृक्ष' कह दिया जा सकता है। इस अक्षररूप वृक्षब्रह्म का कटा-छँटा रूप व्यक्त क्षरब्रह्म ही हो सकता है, जो अपने विस्रस्त-प्रवर्ग्य-भाग से विश्वभुवनों का निर्म्माण कर 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' रूप से विश्वाधार बन रहा है। यही-'ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्'। लक्षण तीसरा व्यक्त क्षरब्रह्म है[१]। तदित्थं-तीनों ब्रह्मविवर्त्तों का संग्रह करते हुये वेदमहर्षि नें समस्त ब्रह्मवैभव का अवारपारीण स्वरूप आपके सम्मुख रख दिया है। अब आप समन्वय कीजिए इन सर्वथा विभक्त ब्रह्मतत्त्वों का परिभाषाओं के आधार पर कि-इनमें वनब्रह्म कौनसा है?, अश्वत्थस्वरूप वृक्षब्रह्म कौनसा है?, एवं इस वृक्ष का कटा-छँटा ब्रह्मभाग कौनसा है?। यह समन्वयभाव तो आपकी प्रज्ञा पर ही अवलम्बित है।

स्थिति का थोड़ा और स्पष्टीकरण कर लिया जाय। स्पष्ट है कि मन्त्र का 'ब्रह्म' शब्द विभक्त रूप से त्रिसंस्थानुबन्धी ही प्रमाणित हो रहा है। 'ब्रह्मवनम्' जहाँ ऋषि यह कहेंगे, वहाँ इस विशाल जङ्गल को लक्ष्य बनाते ही आपकी बुद्धि थक जायगी। एवं इस थका देने वाले 'वन' शब्द से बुद्धि से परे रहने वाले विश्वातीत अनन्त की ओर स्वतः एव आपका ध्यान आकर्षित हो जायगा। क्योंकि 'वन' शब्द परात्पराव्यय से समतुलित-सा शब्द है। इधर वृक्ष का सीमित आकार आपके प्रज्ञाक्षेत्र में ऋजुभाव से ही खचित हो पड़ता है। आगे चलिये। किन्तु इस सम्पूर्ण वृक्ष का उपयोग तो सर्वात्मना सम्भव नहीं है। अतएव मान लेना पड़ेगा कि, वन, और वृक्ष दोनों ही उपयोग की सीमा से बहिर्भूत

हैं, असस्पृष्ट हैं। अतएव च अश्वत्थमूर्त्ति महामायी विश्वेश्वर है तो सही, उसकी सत्ता तो हमें स्वीकृत है। किन्तु हम अपने व्यवहारात्मक-आचार-भावात्मक-कर्म्मकाण्ड में कैसे इसका ग्रहण करें?, यह समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाती है। उसी का यह समाधान है कि, उस अश्वत्थब्रह्म का तत्क्षण होकर प्रवर्ग्यात्मक जो उच्छिष्ट भाग हमें उपलब्ध होता है, एकमात्र वही भूतसंस्था का मूलाधार बन पाता है, जो उच्छिष्टात्मक तत्त्व 'यज्ञोच्छिष्ट' कहलाया है, एवं-'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्' रूप से अथर्व ने जिसे भौतिक विश्व का उपादान माना है। एवं जिस प्रवर्ग्यात्मक यज्ञोच्छिष्ट का यशोवर्णन करते हुये भगवान् ने कहा है कि-'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः' (गीता ३।१३)।

यह तत्क्षणभाव ही क्योंकि हमारी भूतसंस्था का उपयोगी है, एवं ऐसा तत्त्व-'क्षरः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार 'क्षरब्रह्म' ही हो सकता है। यह समन्वय तो इतना स्पष्ट है कि, यदि मानव अवधानपूर्वक थोड़ा प्रज्ञा से काम ले, तो सम्पूर्ण समन्वय स्वयं उसके सम्मुख प्रस्फुटित हो पड़ता है। क्योंकि वेदपुरुष तो-'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे-जायेव पत्य उशती सुवासा' रूप से स्वयं ही तत्त्वचिन्तक प्रज्ञाशीलों के लिये व्यक्त कर दिया करते हैं अपना रहस्यात्मक तात्त्विक स्वरूप। इसके लिये किसी भी व्याख्यान्तर के प्रति अनुधावन की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वयं यही ऐसा ऋजुशास्त्र है, प्रसादगुणयुक्त ऐसा प्राञ्जलशास्त्र है कि, शुद्धबुद्धिसे,तत्त्वनिष्ठात्मिका विमलबुद्धि से पारिभाषिक समन्वयपूर्वक यदि कोई द्विजाति मानव इसकी शरण में जाता है, तो वह स्वयं अपना स्वरूप अभिव्यक्त कर दिया करता है। इसीलिये तो हमारी न केवल मान्यता ही है, अपितु ऐसी दृढ़ आस्था है कि "वेदशास्त्र के समन्वय के लिये

किसी भी भाष्य-व्याख्या-आदि की कोई अपेक्षा नहीं है। वेद स्वयं ही अपनी व्याख्या है। वेदशब्द स्वयं हीं सम्पूर्ण तात्त्विक व्याख्याएँ स्वगर्भ में निहित रखते है।"

अलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेतिवृत्तेन। अब हमें **ब्रह्मविज्ञान**, तथा **यज्ञविज्ञान**, इन दोनों शब्दों को अपनी प्रक्रान्त चर्चा का केन्द्र बना लेना चाहिये, एवं इसी आधार पर विज्ञानशब्द के समन्वय-प्रयास में प्रवृत्त हो जाना चाहिये। 'ब्रह्मविज्ञान' के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ पूर्व-सन्दर्भानुसार, 'क्षरब्रह्म' हुआ। तो क्या क्षर की यह शक्ति है कि वह अपने से अभिन्न अक्षर, तथा अव्यय को छोड़ कर स्वयं स्वतन्त्र रूप से रह सके ?। क्या मान लेंगे आप ऐसा ?। नहीं। जिस प्रकार यज्ञ ब्रह्म को छोड़ कर क्षणमात्र भी स्व स्वरूप से समवस्थित नहीं रह सकता, एवमेव क्षरात्मक ब्रह्म की अक्षर और अव्यय की उपेक्षा कर एक क्षण भी स्व स्वरूप में व्यवस्थित-प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। क्या तात्पर्य्य निकला इस वाक्य-सन्दर्भ से ?। केवल 'क्षरविज्ञान' का ही नाम 'ब्रह्मविज्ञान' नहीं है। अपितु यह क्षरविज्ञान नित्यसापेक्ष अपने अव्यय, तथा अक्षर के साथ समन्वित होकर तीन अवान्तर धाराओं में परिणत होकर ही आपके सम्मुख उपस्थित हो सकेगा, जिसका निष्कर्षार्थ यह निकलेगा कि—**"अव्ययविज्ञान-अक्षरविज्ञान-एवं क्षरविज्ञान, इन तीनों विज्ञानों का समन्वित रूप ही ब्रह्मविज्ञान है।"** निष्कल परात्पर से अभिन्न पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल क्षर, इन सोलह कलाओं से कृतरूप अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक इत्थंभूत सर्वात्मक ब्रह्मविज्ञान को ही **'षोडशीपुरुष'** कहा जायगा, यह षोडशीपुरुष ही **'प्रजापति'** कहलाएगा,

प्रजापतिविज्ञान ही 'ब्रह्मविज्ञान' कहलाएगा, एवं इस प्रजापतिरूप ब्रह्मविज्ञान को आधार मान कर यज्ञविज्ञान का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ही 'प्राजापत्यशास्त्र' कहलाएगा, और इसी प्राजापत्यशास्त्र को हम 'वेदशास्त्र' कहेंगे, जिसकी सीमा में त्रिधारात्मक ब्रह्मविज्ञानात्मक ज्ञान, तथा अनेकधारात्मक यज्ञविज्ञानात्मक विज्ञान यथास्वरूप यथानुरूप सुव्यवस्थित बने हुये हैं।

ब्रह्मविज्ञान का संक्षिप्त निदर्शन आपके सम्मुख उपस्थित किया गया। अब दो शब्दों में ब्रह्मविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित विश्वविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान का समन्वय कर लेना भी प्रासङ्गिक ही माना जायगा। अव्ययविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित अक्षरविज्ञान के द्वारा क्षरविज्ञान के माध्यम से जो कोई और नवीन विज्ञान उत्पन्न होगा, उसे ही यहाँ 'यज्ञविज्ञान' कहा जायगा। वस्तुतत्त्व का समन्वय उतना सरल नहीं है, जितना कि प्रश्न का स्वरूप सरल है। इसी प्राजापत्यविज्ञान के स्वरूपान्वेषण के लिये महर्षि भारद्वाजादि ने अपनी वरप्राप्त आयु के चार सौ वर्ष समाप्त किये हैं। तथापि-'स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्' न्याय से बहुत सम्भव है भारतीय आर्षप्रज्ञा आज भी इस दिग्दर्शन के द्वारा भी अपने उस चिरन्तन शाश्वत् सत्य की ओर आकर्षित हो सके, जिस आकर्षण के बिना इसका कोई भी स्वरूप शेष नहीं रह जाता।

सम्भवतः इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुए संस्थान के यशस्वी मन्त्री श्री वासुदेवशरण महाभाग ने संस्थान के षाण्मासिक ज्ञानसत्रों में इसप्रकार के प्रश्नोत्तरविमर्श के लिए बलपूर्वक हमें प्रवृत्त किया है। स्पष्ट है कि यह पद्धति कोई विशिष्ट आर्षपद्धति नहीं है। अपितु इस

पद्धति का तो आस्तिक प्रजा के मनःशरीरभावप्रधाना तात्कालिक उपलालनों से सम्बन्ध रखने वाली अनुरञ्जनभावप्रधाना पौराणिकी कथा शैली से ही प्रधान सम्बन्ध है। प्राजापत्यशास्त्र कदापि इत्थंभूता आपातरमणीया शैली से गतार्थ नहीं बन सकता। यहाँ तो अनन्यनिष्ठानुगत चिरन्तन स्वाध्याय ही एकमात्र शरणीकरणीय है। अजस्र तप, तथा श्रम के द्वारा अध्यवसायपूर्वक जरामर्य्यसत्रवत् यावज्जीवन प्रक्रान्त रहने वाली स्वाध्यायनिष्ठा ही इस दिशा में वास्तविक तत्त्वसमन्वयानुगता मानी गई है, जबकि इसके सम्बन्ध में भी इस जन्म में, अथवा उत्तरजन्म में-कब समन्वयसंसिद्धि प्राप्त होगी ?, प्रश्न अचिन्त्य ही बना रहता है—

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'—
'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'।

जैसाकि स्पष्ट किया गया है—ब्रह्मविज्ञान को मूल में प्रतिष्ठित किए बिना यज्ञविज्ञान, एवं तदनुप्राणित भूतविज्ञान निर्म्माण तथा संरक्षण के स्थान में ध्वंस-विनाश का ही कारण बन जाया करता है। ऐसा ही कुछ घटित विघटित हो पड़ा था देवयुगात्मक वेदयुग से भी पूर्व के साध्ययुग में। भूतविज्ञान-कौशल की चरम सीमा पर पहुँच जाने वाली तद्युग की साध्यजाति ने ब्रह्मविज्ञानप्रतिष्ठा की उपेक्षा कर, किंवा उससे अपरिचित रह कर यज्ञ को ही विश्वस्वरूप का अन्यतम महान् एकमात्र आधार मानते हुए यज्ञ से ही यज्ञ का वितान-विस्तार आरम्भ कर देने की महती भ्रान्ति कर डाली थी, जिसका—**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवस्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्'** इत्यादि से स्पष्टीकरण हुआ है। उसी का यह दुष्परिणाम हुआ था कि, अन्ततोगत्वा विशुद्ध भूतविज्ञान में आसक्त अभिनिविष्ट यह जाति अन्ततोगत्त्वा इन भूतविज्ञानविजृम्भणों के सर्वस्वसंहारक क्रव्या-

दाग्नि में ही आहुत हो गई। जो शेष बचे रह गए, उन्हें भगवान् ब्रह्मा के द्वारा यह सहज उद्बोधन सूत्र उपलब्ध हुआ कि-"क्योंकि तुमने यज्ञात्मक क्षणिक क्षरविज्ञान को ही सर्वस्व मानते हुए तदाधारभूत ब्रह्मविज्ञान की उपेक्षा की थी। अतएव ज्ञानप्रतिष्ठाशून्य तुम्हारा यह भूत-विज्ञान तुम्हारे सर्वनाश का ही कारण बन गया। इसी व्यामोहन में आसक्त-व्यासक्तमना बने रहने के कारण तुम अपने आधारशून्य विज्ञान के द्वारा किसी भी अभ्युदय-निःश्रेयस-प्रवर्त्तक निश्चित लक्ष्य के अनुगामी न बन सके। अपितु सृष्टिस्वरूप समन्वय के लिए अनवरत व्यग्र बने रहने वाले तुम विज्ञानाभिविष्टों नें कभी पानी को विश्व का मूल माना, कभी अहोरात्र को मूल माना, कभी आकाश को मूल बतलाया, कभी सत् को, तो कभी असत् को, तो कभी सदसत् दोनों की घोषणा की। कभी रजोगुण को मूलप्रवर्त्तक मान बैठे। कभी आवरणात्मक तम को ही कारण बतलाने लग पड़े। तो कभी सापेक्षवादमूलक अपरभाव ही तुम्हारी दृष्टि में सृष्टि का मूल बन बैठा। इसप्रकार ब्रह्मप्रतिष्ठा से वञ्चित इन अम्भोवाद–अहोरात्रवाद–व्योमवाद–सद्वाद–असद्वाद–सद्-सद्वाद–रजोवाद–आवरणवाद–अपरवाद–आदि आदि विविध वादों का अनुगमन करते हुए इतस्ततः दन्द्रम्यमाण ही बने रहे। हम चाहते हैं कि, अब तुम सर्वाधारभूत ब्रह्मविज्ञानात्मक सिद्धान्तवाद को ही अपने इन विविध विज्ञानवादों की मूलप्रतिष्ठा बनाओ, जिस आधार के द्वारा सम्पूर्ण नानावाद सुसमन्वित बन जाया करते हैं। एवं उस दशा में मृत्युमय भी ये विज्ञानवाद अमृतनिष्पत्ति के कारण प्रमाणित हो जाया करते हैं। यही ब्रह्मविज्ञानात्मक सिद्धान्तवाद विज्ञानवाद के अन्त हो जाने पर आगे प्रक्रान्त होने वाले वेदयुगात्मक देवयुग में प्रतिष्ठित हुआ,

जिस इस रहस्यपूर्ण भारतीय इतिवृत्त के संस्मरण से भी आज की भारतीय प्रज्ञा पराङ्मुख बन चुकी है।

यज्ञविज्ञान के आधारभूत ब्रह्मविज्ञान के समन्वय के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। उपबृंहण-भाव ही ब्रह्म का समन्वयार्थ है। एक ही तत्त्व का तीन धाराओं में विभक्त हो जाना ही उसका उपबृंहण है। यही उपबृंहण ब्रह्म का 'ब्रह्मत्व' है। **'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम् त्रयं सदेकमयमात्मा'** इत्यादि श्रौत सिद्धान्तानुसार एक का तीन भाव में परिणत होते हुए भी एक ही भाव में विद्यमान रहना ब्रह्म का ब्रह्मत्त्व है। तात्पर्य्य यही हुआ कि एक ही मौलिक तत्त्व का साक्षी, निमित्त, एवं उपादान, इन तीन रूपों में परिणत हो जाना ही उस तत्त्व का उपबृंहण है, जिसे दर्शनभाषा में 'विवर्त्त' कहा गया है, पारिभाषिक दृष्टि से जो विवर्त्त 'विभूति'—'महिमा'–आदि नामों से उपवर्णित है। अव्ययब्रह्म की अपेक्षा से सम्पूर्ण विश्व उस अव्ययब्रह्म की साक्षी में प्रतिष्ठित है। किन्तु यह साक्षीभूत अव्ययब्रह्म न तो विश्व का निमित्त है, न कर्त्ता है। अर्थात् न तो यह असमवायी कारण ही बनता, एवं न उपादान-कारणात्मक समवायी कारण ही बनता जैसा कि—**'न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते'–'न करोति-न लिप्यते'** इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त वचनों से प्रमाणित है। अक्षरब्रह्म विश्व का निमित्तकारण बनता है, जैसा कि–**'तथा अक्षराद्विविधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति'** से स्पष्ट है। एवं तीसरा क्षरब्रह्म विश्व का उपादानकारण बनता है, जैसा कि---**'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'–'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** इत्यादि श्रुति–स्मृति से प्रमाणित है। ब्रह्म–विज्ञानान्तर्गत विश्वसाक्षी अव्यय, विश्वनिमित्त अक्षर, एवं विश्वोपादान

क्षर, तीनों विभिन्न ब्रह्मों के लिए क्रमश विश्वेश्वर-विश्वकर्त्ता-विश्वात्मा ये तीन पारिभाषिक नाम लक्ष्यारूढ करनें पड़ेंगे, जो उपनिषदों में यत्र-तत्र समन्वित हैं। 'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः' के अनुसार साक्षी अव्यय ही 'विश्वेश्वर' कहलाएगा। 'ब्रह्म देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता' के अनुसार निमित्त अक्षर 'विश्वकर्त्ता' माना जायगा, एवं--'ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्'-'विश्वात्मा विश्वकर्म्मकृत्' इत्यादि रूप से उपादानक्षर को विश्वात्मा कहा जायगा।

यह सर्वथा संस्मरणीय, किंवा अविस्मरणीय है कि, तीनों विवर्त्तभाव एक ही अव्याकृत तत्त्व के तीन व्याकृत उपबृंहणमात्र हैं। अतएव तीनों विज्ञानदृष्टि से पृथक् पृथक् होते हुए भी ज्ञानदृष्टि से अपृथक् ही हैं, अतएव—'एतद्वै तत्–एतद्वै तत्' रूप से ऋषि विभक्त विवर्त्तभावों के निरूपण के साथ साथ ही सहजसिद्धा अभिन्नता को भी लक्ष्य बनाए रहते हैं। यह इसलिए कि, कहीं आप इन तीन विवर्त्तों के सम्बन्ध में अपनीं ऐसी धारणा न बना लें कि–ये तीन रूप पृथक् पृथक्रूप से एक दूसरे से विच्छिन्न होकर कट कट कर तीन पृथक् पृथक् सत्ताएँ बन गईं। सत्ता एक है, भातिमात्र में त्रैविध्य है। तभी तो सजातीय–विजातीय एवं स्वगत भेदभिन्न त्रिविध भेदवाद से असंस्पृष्ट एकात्मवादसिद्धान्त सर्वथा अक्षुण्ण है। इसी अभिन्नता को लक्ष्य बना कर—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्त जागरूक बना है। अव्यय से विकसित अक्षर कभी अव्यय से पृथक् नहीं रह सकता। एवमेव अक्षर से समुद्भूत क्षर कभी अक्षर और अव्यय को छोड़ कर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता।

स्पष्ट है कि उत्तर उत्तर के विवर्त्त पूर्व-पूर्व के विवर्त्तभावों को गर्भीभूत बना कर ही अग्रगामी बनते हैं। अतएव हमें यह कहना पड़ता है कि, निकृष्ट से निकृष्ट विज्ञान भी, सामान्यप्रज्ञ बालकों का क्रीडाकौशलात्मक विज्ञान भी अपने मूल में उसी शाश्वत-सनातन-ब्रह्मविज्ञान को आधार बनाए हुए हैं। अन्तर इन क्षुद्रविज्ञान, तथा बालविज्ञानों में, एवं उन सनातन शास्त्रीय आर्ष विज्ञानों में केवल यही है कि, वे जहाँ अपनी ब्रह्मानुरूपतालक्षणा समता से सुव्यवस्थित बने रहते हैं, वहाँ ये विज्ञान उसकी विषमता से अव्यवस्थित बने हुए हैं। इस विषमभावापन्ना अव्यवस्था के दोष से ही ये विज्ञान लाभ के स्थान में, संरक्षण के स्थान में हानि तथा ध्वंस के कारण ही बन जाया करते हैं। इस व्यञ्जना को लक्ष्य बना कर ही तो हमें विज्ञान शब्दार्थ का समन्वय करना है।

सूर्य्य-चन्द्रमा-व्योम-वायु-अग्नि--सलिल-पृथिवी-विद्युत्-ग्रह-नक्षत्र-उल्का-धिष्ण्या-वज्र-धूमकेतु-आदि आदि पदार्थ यदि विश्वेश्वर के ब्रह्मविज्ञान की सीमा में अन्तर्भुक्त हैं, तो हाइड्रोजन-नाइड्रोजन-ऑक्सिजन, कार्बन, वर्त्तमान भूतविज्ञान के पदार्थ भी कोई लोकान्तर की तो वस्तु नहीं होंगे। फलतः सूर्य्यादि का यदि विज्ञानत्त्व ब्रह्मविज्ञानत्त्वेन अनुप्राणित है, तो वर्त्तमान युग के ऑक्सिजनादि भूतविज्ञान भी हैं तो ब्रह्मविज्ञान की सीमा में हीं अन्तर्भुक्त। इनके सम्बन्ध में भारतीय विज्ञान की समतुलन दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि, इन भूतविज्ञानों का मूल क्योंकि स्वप्रतिष्ठात्मक ब्रह्मविज्ञान के आधार पर समत्त्व रूप से सम्भवतः व्यवस्थित नहीं है, दूसरे शब्दों में ब्रह्मभाव अभी तक इन भूतभावों के लिए तिरोहित बना हुआ है। अतएव इत्थंभूत ब्रह्मोपेक्षित यह भूतविज्ञान मनःशरीरानुबन्धिनी लोक-वित्तैषणाओं का ही समुत्तेजक

बना रहता हुआ लाभ के स्थान में मानव की अनमूला सहज शान्ति का विघातक ही प्रमाणित हो सकता है, हुआ है पूर्व के साध्यादि युगों में, एवं हो रहा है आज के ब्रह्मवञ्चित आत्मवञ्चित भूतविज्ञानयुग में भी। यही तो समन्वय कर लेना है राष्ट्र को ज्ञान, और विज्ञानधाराओं के सम्बन्ध में। नहीं, तो विज्ञान स्वयं बड़ा ही पवित्र आराध्य तत्त्व है मानव के लिए, फिर वह भूतविज्ञान हो, अथवा तो ब्रह्मविज्ञान। भारतीय महर्षियों नें–'विज्ञानमित्युपास्व' रूप से विज्ञान को उपास्य माना है, एवं इसकी ब्रह्मविज्ञानधारा को–'**नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' इस उद्घोषणा के साथ मानव के शाश्वत आनन्द का मुख्य कारण माना है।

कौनसा दृष्टिकोण है विज्ञान का वैसा, जो मानव के लिए उपास्य, आराध्य बना करता है ?। आराधना की जाती है अपने से विशेष शक्तिशाली की।! मानव की भूतसंस्था में विशेष शक्तिशाली मानव का अलौकिक वह ब्रह्मभाव ही है, जिसे 'प्रजापति' कहा गया है। यही तो हमारा उपास्य बना करता है। भूतजगत् तो हमारी इन्द्रियों के सम्मुख विद्यमान रहता हुआ भोग्य है, अन्नाद्य है। प्रज्ञापराधवश जब हम इस मर्त्य भूतजगत् को ही ब्रह्मात्मापेक्षया विशेष शक्तिशाली, अतएव बड़ा मान बैठने की भूल कर बैठते हैं, तो कालान्तर में यह भूतजगत् हमें अपना ग्रास ही बना डालता है, रक्षण के स्थान में हमारा भक्षण ही कर डालता है। एवं उस भक्ष्य वह स्थिति में पहुँचने के अनन्तर इस प्रवृद्ध भूतविज्ञान की एषणा का उपशम करने में सर्वथा असमर्थ बने रहते हुये अपना सभी कुछ नष्ट कर लेते हैं ही। इस महाभय से त्राण प्राप्त करने का एकमात्र माध्यम ब्रह्मविज्ञान ही है, जिसे प्रतिष्ठा बना लेने के अनन्तर वही भूतविज्ञान नियन्त्रण में आता हुआ हमारे अभ्युदय का ही कारण बन जाता है। एतावन्मात्र-

त्रा

दृष्टिकोण को सम्मुख रखते हुए ही हमें ब्रह्मविज्ञान को इस यज्ञविज्ञानात्मक भूतविज्ञान की मूलप्रतिष्ठा बना लेना है। और यही एतद्देशीय प्राच्य-आध्यात्मिक ब्रह्मविज्ञान का प्रथम, एवं प्रमुख दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर भारतीय यज्ञविज्ञान की धारा प्रवाहित हुई है।

क्या अर्थ है 'यज्ञ' शब्द का ?, इस प्रश्न के समाधान से पहिले ब्रह्मविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले एक निरूढभाव का स्पष्टीकरण और कर लीजिए। जिस प्रकार 'पङ्कज' शब्द कालान्तर में कमल में ही निरुढ हो गया है, एवमेव कालान्तर में विज्ञानशब्द भी 'यज्ञविज्ञान' में ही निरूढ बन गया है। इसीलिए आरम्भ में हमनें कहा था कि, ब्रह्मविज्ञान को हम निरूढभावापन्न विज्ञान शब्द से व्यवहृत न कर एकत्वनिबन्धन ज्ञानशब्द से ही व्यवहृत करेंगे, जैसा कि-'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्' इत्यादि स्मार्त्तवचन से भी प्रमाणित है। इस वचन के 'ज्ञानं' का अर्थ है-'ब्रह्मविज्ञानम्' एवं 'विज्ञानम्' शब्द का अर्थ है-'यज्ञविज्ञानम्'। यहीं कुछ विशेषरूप से निवेदन करना है।

ब्रह्म का विज्ञान (परीक्षण) नहीं हुआ करता, अपितु ज्ञान (निरीक्षण) हुआ करता है। **दर्शनात्मक निरीक्षण ज्ञानभाव है, एवं आचरणात्मक परीक्षण विज्ञानभाव है।** भूतातीत सुसूक्ष्म ब्रह्म का सूक्ष्म-दृष्टि से ईक्षण ही सम्भव है, निरीक्षण ही सम्भव है, परीक्षण नहीं। अतएव ब्रह्मविज्ञान को ईक्षणात्मक ज्ञान ही कहना समीचीन बनता है। प्रयोगात्मक परीक्षण का, आचरणात्मक व्यवहार का भूतभावों से सम्बन्ध है। अतएव परीक्षणात्मक विज्ञान का भूतात्मक यज्ञविज्ञान से ही सम्बन्ध माना जा सकता है। सहजभाषानुसार ब्रह्मविज्ञान का विज्ञान नहीं हुआ करता, परीक्षण नहीं हुआ करता, अपितु ज्ञान हुआ करता है, ईक्षण

हुआ करता है। यही भारतीय दर्शनशास्त्र की मूलाभित्ति है, जिसका आचरणात्मिका आचारमीमांसा से कोई सम्बन्ध नहीं है। उधर यज्ञविज्ञान का ईक्षण नहीं हुआ करता। अपितु विज्ञान हुआ करता है। परीक्षण हुआ करता है। और यही भारतीय 'विज्ञानशास्त्र' की मूलभित्ति है, जिसका आचरणात्मिका यज्ञमीमांसा से ही प्रधान सम्बन्ध हो रहा है। यहाँ आकर अब हमें 'दर्शन' और 'विज्ञान' इन दो दृष्टिबिन्दुओं का अनुगामी बन जाना पड़ा। दर्शन, तथा विज्ञान के समतुलनात्मक समन्वय के लिए तो अन्य प्रश्नोत्तरविमर्श ही अपेक्षित है। प्रकृत में केवल 'दर्शन' शब्द के अनुबन्ध से यह अवश्य निवेदन कर दिया जाता है कि, जिसे आज 'भारतीय दर्शन' माना जा रहा है, वह वस्तुतः वैदिक दर्शन से सर्वथा विभिन्न प्रमाणित हो चुका है। वैदिक दर्शन आत्मदृष्ट्या जहाँ ईक्षणभाव-प्रधान बनता हुआ 'दर्शन' है, वहाँ यही अपने विभूतिरूप यज्ञविज्ञान की मूलभित्ति बनता हुआ 'विज्ञान' का भी आधारस्तम्भ बना हुआ है। दूसरे शब्दों में दर्शनात्मक वैदिक ज्ञान परीक्षणात्मक वैदिक विज्ञान के साथ समन्वित होकर ही प्रवृत्त हुआ है। ठीक इसके विपरीत वर्त्तमान भारतीय दर्शन विज्ञानपक्ष की आत्यन्तिक उपेक्षा कर शुष्क तत्त्ववाद में ही परिसमाप्त है, जिस इत्थंभूत विज्ञानवञ्चित दार्शनिक व्यामोहन नें ही आचारनिष्ठात्मक विज्ञानकाण्ड को अभिभूत किया है। एवं इसी दर्शनभ्रान्ति नें भारतीय व्याख्याताओं को शुष्क ज्ञानविजृम्भणमात्र का पथिक प्रमाणित कर दिया है। वस्तुगत्या एक ही विज्ञान की दो धाराओं का नाम **दर्शन,** और **विज्ञान** है, जिनके लिए वेदशास्त्र में ब्रह्म और यज्ञ, ये दो पारिभाषिक शब्द नियत हैं। यदि यज्ञ ब्रह्म पर प्रतिष्ठित है, तो ब्रह्म भी यज्ञ के द्वारा ही विभूतिभाव में परिणत हो रहा है। बिना

यज्ञ के ब्रह्म भी अप्रतिष्ठित है। तभी तो **'तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'** (गीता ३।१५। इत्यादि) रूप से सर्वाधारभूत ब्रह्म को भगवान् नें यज्ञ में ही प्रतिष्ठित माना है।

प्रतीच्य भाषा में सम्भवतः 'दर्शन' के लिए 'फिलासफी' (Philosophy) शब्द नियत है, एवं विज्ञान के लिए 'सायंस' (Science) शब्द नियत है। किन्तु यह शब्दद्वयी तत्त्वतः प्रतीच्य क्षेत्र में ही निरूढ है। जिस तत्त्ववाद का परीक्षणात्मक विज्ञान से, एवं तदनुगत आचरण से कोई सम्बन्ध नहीं है, सम्भवतः वही फिलासफी है, जो भारतीय तथाकथित विज्ञानाचारशून्य भारतीय वर्त्तमान दर्शन के साथ अवश्य समन्वित हो सकता है। वैदिक दर्शन तो मौलिक तत्त्वात्मक वह दर्शन है, जिस के आधार पर यौगिक तत्त्वात्मक विज्ञान का वितान हुआ करता है। अत-एव वैदिक दर्शन तो विज्ञान का, किंवा सायंस का ही मूलभूत आधार है। सायंस जिनके लिए क्रमशः सम्भवतः फिजिक्स (Physics), केमेस्ट्री (Chemistry) इन दो शब्दों का प्रयोग करता है, जो कि दोनों ही शब्द सम्भवतः विज्ञानात्मक सायंस के क्षेत्र से ही अनुप्राणित हैं,– इन दोनों के साथ समझने मात्र के लिए ब्रह्म और यज्ञ, दोनों शब्द समन्वित माने जा सकते हैं

मूलतत्त्वविज्ञान ही वहाँ फिजिक्स कहलाया है, एवं रासायनिक सम्मिश्रणात्मक यौगिक तत्त्वविज्ञान ही केमेस्ट्री माना गया है। यद्यपि भूतविज्ञान के मूलभूत अमुक परिगणित तत्त्वों के साथ वैदिक अव्यय-अक्षर-क्षररूप मूलतत्त्वों का अंशतः भी समतुलन नहीं है। वर्त्तमान विज्ञानसम्मत मूलतत्त्ववाद वैदिक दृष्टि से तो विकारात्मक भूतों की ही सीमा में अन्तर्भुक्त है। तथापि समझने-मात्र के लिए ब्रह्मतत्त्व को

फिजिक्स, एवं यज्ञतत्त्व को केमेस्ट्री कहा जासकता है। किन्तु फिला-सफी का तो भारतीय वैदिक दर्शन से कोई भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। वैदिक दर्शनरूप ब्रह्मतत्त्व वैदिक विज्ञान का फिजिक्स-विभाग है, एवं वैदिक विज्ञानरूप यज्ञतत्त्व वैदिक विज्ञान का केमेस्ट्री तत्त्व है, इस मान्यता को फिर भी समझने मात्र के लिए लक्ष्य बनाया जा सकता है।

ब्रह्मविज्ञानात्मक ज्ञान की यशोगाथा उपरत हुई। अब संक्षेप से यज्ञविज्ञानात्मक विज्ञान की पुण्यगाथा का भी संस्मरण कर लेना चाहिए। यज्ञविज्ञान ही वैविध्यानुगत विज्ञान शब्द का प्रमुख अधिकारी बन रहा है, जैसा कि पूर्व में निरूढता-प्रसङ्ग से निवेदन किया जा चुका है। अब उसी चिरन्तन शैली के माध्यम से 'यज्ञ' शब्दार्थ का समन्वय कीजिए। देवपूजा-सङ्गतिकरण-दान-भावात्मक 'यज्' धातु (यज देवपूजा-सङ्गतिकरणदानेषु) से यज्ञ शब्द सम्पन्न हुआ है, जिन इन तीनों अर्थों में से विज्ञानापेक्षया मध्य के सङ्गतिकरणार्थ की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। अनेक तत्त्वों का सङ्गतिकरणात्मक यौगिकरूप ही 'यज्ञ' शब्द की मौलिक परिभाषा होगी। सम्मिश्रण का नाम ही संस्कृत भाषा में-'यजन' है। यजन ही यज्ञ है। दो-तीन-चार-अथवा तो अनेक तत्त्वों का वैसा सम्मिश्रण, जिससे मिश्रित होनें वाले सभी तत्त्व अपना पूर्वस्वरूप छोड़ते हुए नवीन-अपूर्व स्वरूप में परिणित हो जाँय, वही 'यज्ञ' है। इसी सम्बन्ध को वैदिकदर्शनपरिभाषा में **'अन्तर्य्यामसम्बन्ध'** माना गया है, इसी को अग्नियज्ञ के सम्बन्ध से **'चितिसम्बन्ध'** कहा गया है। एवं यही व्यवहारभाषा में **'ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध'** कहलाया है। उदाहरण के लिए शुक्र और शोणित में रहनें

वाले पुंभ्रूण, तथा स्त्रीभ्रूणों के उपमर्दनात्मक अन्तर्य्यामसम्बन्ध से उत्पन्न सन्तति ही 'यज्ञ' माना जायगा। जहाँ ग्रन्थिबन्धन नहीं होता, वैसे शिथिल सम्बन्ध के लिए 'संशारबन्धन–बहिर्य्यामसम्बन्ध–आदि कहा गया है। इसी को 'योग' माना गया है।

तथाविध योगात्मक सम्बन्ध में युक्त रहने वाले सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूप से सुरक्षित बनें रहते हैं। फलतः इस योगात्मक मिश्रण से कोई अपूर्वभाव उत्पन्न नहीं होता। जिस मिश्रण से अपूर्वता आती है, उसके साथ 'एकीभाव' सूचक 'सम्' उपसर्ग लग जाता है। एवं यों मिश्रण सम्मिश्रण बन जाता है, जिसे कि—'याग' भी कहा गया है। इसप्रकार मिश्रण, तथा सम्मिश्रण के भेद से पदार्थों में योग–याग, भेद से दो प्रकार से सम्बन्ध प्रक्रान्त रहता है, जिनमें से सम्मिश्रणात्मक याग ही 'यज्ञ' का स्वरूपसमर्पक माना गया है। कैसा आश्चर्य्य है कि, सङ्गतिकरणात्मक–सम्मिश्रणात्मक–पारस्परिक मेल जहाँ 'यज्ञ' शब्द की मूलभूता यजनप्रक्रिया से प्रतिध्वनित है, वहाँ तत्समतुलित ही 'केमेस्ट्री' शब्द से सम्बन्ध रखने वाला रासायनिक सम्मिश्रणात्मक सम्बन्ध भी सम्भवतः केमेस्ट्री शब्द से प्रतिध्वनित है। इसीलिये तो हमनें कहा है कि, उच्चभूमिका पर पहुँचने के अनन्तर प्राच्य–प्रतीच्य–सभी विज्ञान सुसमन्वित बन जाया करते हैं।

सम्मिश्रणात्मक यज्ञ की क्या व्याख्या हुई है वेदशास्त्र में ?, यद्यपि यह प्रश्न अत्यन्त दुरूह बन रहा है परीक्षणात्मक यज्ञविज्ञान के स्वरूप से सर्वथा वञ्चित मादृश विज्ञानशून्य व्यक्ति के लिये। तदपि 'समाप्स्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः' न्याय से यह कहने की धृष्टता कर ही ली जाती है कि, व्याख्यानुगत प्रश्न के अनेक समाधान हो सकते हैं।

उदाहरण के लिये आध्यात्मिक यज्ञ का लक्षण पृथक् होगा, आधिदैविक यज्ञ का कोई अन्य ही लक्षण होगा, एवं आधिभौतिक यज्ञ अपना कोई तीसरा ही स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित करेगा। सर्वप्रथम क्रमप्राप्त यदि आध्यात्मिक यज्ञ-जिसे कि शारीरिक यज्ञ ही कहा गया है-का लक्षण ढूँढने चलें तो-**अन्नोर्कप्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः'** यही लक्षण हमारे सम्मुख उपस्थित होगा, जिसका अक्षरार्थ होगा --"**अन्न, उर्क्, एवं प्राण, इन तीनों का एक दूसरे के ग्रहण से उत्पन्न हो पड़ने वाला जो धारावाहिक चंक्रमण है, वही यज्ञ है।**" इस यज्ञ में तीनों ही अनुग्राहक हैं, तीनों ही अनुग्राह्य हैं। समन्वय कीजिये उदाहरण के माध्यम से लक्षण का।

जैसा कि पङ्कज शब्दसमतुलित निरूढभाव-प्रसङ्ग में निवेदन किया गया है—'यज्ञविज्ञान' ही वास्तव में 'विज्ञान' शब्द का प्रमुख अधिकारी प्रमाणित हो रहा है। क्योंकि वैविध्य लक्षण विज्ञानभाव विविध भावापन्न अनेक तत्त्वों के सम्मिश्रणात्मक 'यज्ञ' से ही अनुप्राणित है। अन्न-उर्क्-प्राण-इन तीन विविध भावों से समन्वित कर्म्म को इसी दृष्टि से अवश्य ही शारीरिक, किंवा आध्यात्मिक यज्ञ कहा जा सकता है। प्रकृत्यनुबन्धी अमुक नियत समय पर अशनाया लक्षणा बुभुक्षा, अर्थात् भूख जागरूक हो पड़ी। इस भूख को उपशान्त करने के लिये हमनें अपने उस शारीरिक जाठराग्निरूप वैश्वानर अग्नि में अन्न की आहुति प्रदान की, जो वैश्वानर अग्नि 'आ लोमेभ्यः आनखाग्रेभ्यः' के अनुसार केशलोमों को, तथा नखों के कृन्तनयोग्य अग्रभागों को छोड़ कर सर्वाङ्ग शरीर में प्रचण्डरूप से-धगद्धगत् रूप से प्रज्वलित रहता हुआ धोधूयमान है। इस आहुतिकर्म्म के लिये व्यवहार यह हुआ कि, 'हमनें रुचिपूर्वक

अन्न खा लिया है, भोजन कर लिया है।' अग्नि में आहुत इस अन्न ने अग्नि के सहजसिद्ध विशकलनधर्म्म से अपने आपको प्रथम (१) 'रस' रूप में परिणत कर लिया, एवं विशकलनप्रक्रिया से पृथक् बन जाने वाले मलात्मक प्रवर्ग्य भाग को अग्नि ने पृथक् फैंक दिया। और यों भुक्तान्न आरम्भ में 'रस और मल' इन दो भागों में विभक्त हो गया।

क्या मलभाग इस प्रथमा विशकलनप्रक्रिया से ही निःशेष बन गया रस की सीमा से ?, नहीं। अभी रस में सूक्ष्म मल विद्यमान है। पुनः विशकलनप्रक्रिया प्रारब्ध बनी। रस में से मल भाग पुनः पृथक् हुआ। वही मलभाग 'रस' माना गया, एवं इस मलात्मक रस का रसभाग (२) 'असृक्' अर्थात् रुधिर माना गया। पुनः वही प्रक्रिया, असृक् से (३) 'मांस' रूप रस की निष्पत्ति, एवं स्वयं असृक् की मलसंज्ञा। पुनः मांस में वही प्रक्रिया, मांस से (४) 'मेद' रूप रस की निष्पत्ति, एवं स्वयं मांस की मल संज्ञा। पुनः मेद में वही प्रक्रिया, मेद से (५) 'अस्थि' रूप रस की निष्पत्ति, एवं स्वयं मेद की मलसंज्ञा। पुनः अस्थि में वही प्रक्रिया, अस्थि से (६) 'मज्जा' रूप रस की निष्पत्ति, एवं स्वयं अस्थि की मलसंज्ञा। पुनः मज्जा में वही विशकलन, मज्जा से (७) 'शुक्र' रूप रस की निष्पत्ति, एवं स्वयं मज्जा की मलसंज्ञा। इसप्रकार भुक्तान्न से आरम्भ कर शुक्रपर्य्यन्त प्रक्रान्त रहने वाली रसमलानुगता विशलनप्रक्रिया की क्रमधारा से 'रस-असृक्-मांस–मेद–अस्थि–मज्जा-शुक्र' इन सात धातुओं की स्वरूपनिष्पत्ति हो गई, जिनका पार्थिव ध्रुवतत्त्व से प्रधान सम्बन्ध माना गया है।

क्या शुक्र नामक सप्तम पार्थिव धातु में मन्थनप्रक्रियासहचारिणी विशकलनप्रक्रिया उपशान्त हो गई ?। नहीं। क्यों ?। इसलिए कि अभी

तो भुक्त अन्न के पार्थिव भ्रुवरस का ही इन रसादि-शुक्रान्त सात धातुओं में विशकलन हुआ है। अभी इस पार्थिव अन्न में आन्तरिक्ष्य भर्त्र धातु, एवं चान्द्र दिव्य धरुण धातु, अर्थात् आन्तरिक्ष्य, एवं भ्रुलोक का रस, जो कि क्रमशः तरल एवं विरल मने गए हैं-और प्रतिष्ठित है। अन्न के स्वरूपनिर्म्माण में पृथिवी, अन्तरिक्ष, एवं चन्द्रमा के द्वारा सूर्य्य, तीनों लोकों के पार्थिव घनावयव द्रव्य, आन्तरिक्ष्य तरलावयव द्रव्य, एवं दिव्य विरलावयव द्रव्य, तीनों द्रव्य उपयुक्त हैं। इनमें से अब तक शुक्रान्त जिन सात तत्त्वों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वे तो सातों ही धातु पार्थिव ही हैं, जिन इन सातों पार्थिव धातुओं की अन्तिम विश्रामभूमि 'शुक्र' नाम का सातवाँ धातु ही बन रहा है। यद्यपि पार्थिवादि तीनों ही लोकों के द्रव्य 'धातु' नाम से व्यवहृत हुए हैं। तथापि घनावयव पार्थिव सप्त धातुओं में, तथा आन्तरिक्ष्य तरल-दिव्य विरल-धातुओं में पृथिवी का अन्त का शुक्रधातु ही उपसंहारत्त्वेन प्रमुख बना हुआ है। एकमात्र इसी अनुबन्ध से आगे चलकर तीनों द्रव्यों में सामान्यरूपेण व्याप्त भी 'धातु' शब्द पार्थिव शुक्रधातु में ही निरूढ हो गया है। अतएव लोकव्यवहार में, एवं चिकित्साशास्त्र में शुक्र को यत्र तत्र केवल 'धातु' नाम से भी व्यवहृत कर दिया है। यही कारण है कि, 'धातुक्षय' नामक रोगविशेष 'शुक्रक्षय' का ही संग्राहक बना हुआ है।

उक्त शुक्र नामक पार्थिव अन्तिम धातु में भी पुनः वही विशकलन-प्रक्रिया प्रक्रान्त बनी। इससे शुक्र में प्रतिष्ठित आन्तरिक्ष्य वायु-प्राण-रसात्मक धातु पृथक् हो गया, एवं यही 'ओज' कहलाया। शुक्र ही इस आन्तरिक्ष्य ओज धातु का क्योंकि उपक्रमबिन्दु बनता है। अतएव शुक्रसंरक्षण पर ही ओज, तथा ओजस्विता का संरक्षण सम्भव बना

करता है। यही ओज वैदिक विज्ञान मे–'ऊर्क्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे प्रकृत के यज्ञलक्षण में हमनें दूसरा स्थान दिया है। अन्न से आरम्भ कर शुक्र पर्य्यन्त सातों धातुओं की समष्टि पृथिव्यत्वेन अन्नशब्द से ही परिगृहीत हैं। तदनन्तर आन्तरिक्ष्य 'ओज' नामक 'ऊर्क्' का स्थान आता है।

ऊर्क् रूप ओज 'रस' माना गया है, एवं तदपेक्षया स्वयं शुक्र मल मान लिया गया है। इस रसात्मक ओजधातु में अभी दिव्य रस और समाविष्ट है। यही वह पारमेष्ठ्य प्रवर्ग्यभूत चान्द्र सौम्य रस है, जिसका-**'यो वः शिवतमो रसः'** रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। उसी प्रक्रान्ता विशकलनप्रक्रिया से ओज का विशकलन होता है। इससे विभक्त शुद्ध दिव्य प्राणात्मक शिवतम सोमरस ही 'रस' कहलायेगा, एवं स्वयं ओज इस रस की अपेक्षा से 'मल' मान लिया जायगा। यही शिवतम दिव्यप्राणात्मक सुसूक्ष्म रस भारतीय विज्ञान-परिभाषा में सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता 'प्रज्ञान' नामक अतीन्द्रिय मन कहलाया है। **'चन्द्रमा मनसो जातः, मनश्चन्द्रेण लीयते'** इत्यादि विज्ञानश्रुतियाँ जिस मन की उत्पत्ति चन्द्रमा से मान रही हैं, जिसके लिए–**'अन्नमयं हि सौम्य ! मनः'** यह औपनिषद सिद्धान्त स्थापित हुआ है, वह यही ओज की भी सुसूक्ष्मावस्थारूप दिव्य चान्द्र रस ही है, जिसका इत्थंभूत शिवतम सत्त्व-भाव अन्नविशुद्धि पर ही अवलम्बित है। विज्ञानप्रधान भारत के आबालवृद्ध-वनिता-आमूर्ख-विद्वज्जन-सभी इस सूक्ति से परिचित हैं कि–**'जैसा अन्न, वैसा मन'**। सात्त्विक-राजस-तामस-जैसा भी अन्न खाया जायगा, तदनुपात से ही विशकलन की अन्तिम सीमा में प्रज्ञानमन सत्त्व-रज-स्तमोभावों में परिणत रहेगा। सत्त्वान्नानुगत

चान्द्र रस ही मन के सहजसिद्ध शिवतम रसरूप सात्त्विक भाव की मूल-प्रतिष्ठा माना जायगा, तभी हमारा मन शिवसंकल्प का अधिष्ठाता बन सकेगा। अपनी सत्त्वगुणान्विता आहारादि की व्यवस्था से मनस्तन्त्र की इसी शिवतमरसात्मिका मङ्गलकामना को अभिव्यक्त करते हुए ऋषि ने कहा है—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

—यजुःसंहिता

यही कारण है कि, अन्यान्य आचारधर्म्मों के समतुलन में यहाँ की ऋषिप्रज्ञा ने 'अन्न' के सम्बन्ध में बड़ी ही जागरूकता मानी है। राजर्षि मनु ने तो अन्यान्य दोषों के साथ इस अन्नदोष को ही मुख्यरूप से ज्ञाननिष्ठ भारतीय ब्राह्मण की जीवितमृत्यु माना है। देखिए !

अनभ्यासेन वेदानां, आचारस्य च वर्जनात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥

—मनुः ।

अन्नशुद्धि का भारतीय मानव के लिए कितना महत्त्व है ?, प्रश्न उक्त विवेचन से सर्वात्मना समाहित है। दुर्भाग्य है यह इस प्रज्ञाशील देश का कि, अपनी मौलिक विज्ञानपरम्पराओं को विस्मृत कर बैठने वाला वही भारतीय मानव आज अन्नव्यवहारानुगता खान-पान की मर्य्यादा के प्रति सर्वथा ही उच्छृंखल अमर्य्यादित बन कर ही विश्राम नहीं ले रहा। अपितु-ऋषिप्रज्ञा के द्वारा निर्धारित विज्ञानसिद्ध अन्नव्यवस्थाओं के उपहास में भी सर्वाग्रणी बना हुआ है। इससे अधिक इस राष्ट्रीय मानव का और क्या पतन होगा ?।

चर्चा आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूपलक्षण की चल रही है। पार्थिव सप्तधातु के कौशल ने मानव को शरीरस्वस्थता प्रदान की, ओज ने ओजस्विता प्रदान की, एवं शिवसंकल्पात्मक मन ने मनस्विता प्रदान की। बलिष्ठ–ओजिष्ठ–मंहिष्ठ इत्थंभूत मानव का यह आध्यात्मिक यज्ञ अन्न–ऊर्क–प्राणरूप सप्तधातु–ओज–मन–इन तीनों के धारावाहिक जिस चंक्रमण से सुव्यवस्थित बना हुआ है, वही आध्यात्मिक यज्ञ की स्वरूप-व्याख्या है। यह तो हुआ इस यज्ञ का तात्त्विक समन्वय। अब दो शब्दों में लौकिक समन्वय का भी विश्लेषण कर लीजिए। भोजनकर्म्म सम्पन्न हुआ। इससे भुक्त अन्न रसरूप में परिणत हो गया। अपनी इस रसशक्ति से भुक्त अन्न ने हमारे उस शारीरिक प्राण को सशक्त बना दिया, जो प्राण अन्नग्रहण से पूर्वावस्था में मूर्च्छितप्राय बना हुआ था। रसाहुति से मूच्छित प्राण मानों जग पड़ा, विकसित हो पड़ा, प्रज्ज्वलित हो पड़ा, समिद्ध हो पड़ा वैसे ही-जैसे कि घृताहुति से अग्नि प्रज्ज्वलित हो पड़ता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, भुक्त अन्न हीं रस के द्वारा कालान्तर में प्राणरूप में परिणत हो गया। अन्नात्मक यह प्रज्ज्वलित–जागरूक प्राण हीं मानव की जीवनीयशक्ति कहलाया। इस जीवनीयशक्ति में परिणत बलिष्ठ प्राण अपने ऐन्द्रियक व्यापार, तथा शारीरिक बाह्य कर्म्म के लिए, अध्यवसाय-पूर्वक कर्म्मप्रवृत्ति के लिए प्रेरणाबल का प्रवर्त्तक बन गया। प्राण की इसीं प्रेरणा से हम कर्म्म में प्रवृत्त हो पड़े। इस अध्यव-सायात्मिका कर्म्मसन्तानपरम्परा के द्वारा हमारा प्राण पुनः विस्रस्त हो पड़ा, खर्च हो गया। इस विस्रंसनधर्म्म से प्राण ज्यों ज्यों निर्बल–अशक्त–शिथिल होनें लगा, त्यों त्यों हीं हमारी कर्म्मप्रवृत्ति मानों शिथिल होने लगी। इस शैथिल्य के साथ साथ

ही प्राण मानो मूर्च्छित होने लगा। प्राण की यही मूर्च्छा-अवस्था 'अशनाया' नाम से प्रसिद्ध हुई, जिसका अक्षरार्थ है अशरूप अन्नग्रहण की इच्छा, जिसे कि लोकभाषा में 'भूख' कहा गया है। वही भूख इसके द्वारा पुनः अन्न का आहरण, आहृत अन्न की पुनः अग्नि में आहुति, आहुत अन्न की पुनः रसद्वारा प्राणरूप में परिणति, सशक्त प्राण की पुनः कर्म्म में प्रवृत्ति, कर्म्मप्रवृत्ति से पुनः प्राण का शैथिल्य, और तद्द्वारा पुनः अशनाया की जागरूकता, पुनः अन्नाहरण-इत्येवंरूपेण अन्न-ऊर्क-प्राणों का यह धारावाहिक चङ्क्रमण अनवरत प्रवाहित रहता है, एवं यही आध्यात्मिक शारीरिक यज्ञ की एक प्रकार की स्वरूपव्याख्या है।

अशनाया को वेद ने 'पाप्मा' कहा गया है-'अशनाया वै पाप्मा'। अन्नाहरण की मूलाधिष्ठात्री यह अशनाया-बुभुक्षा यदि अन्नाहरण में समर्थ हो जाती है, तो मानव के लिए इससे बड़ा पुण्यभाव भी कोई दूसरा नहीं है। साथ ही यदि इसे समय पर अन्न उपलब्ध न हुआ, तो यह सर्वप्रथम शारीरिक रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जादि का ही भक्षण-चर्वण आरम्भ कर देती है। कालान्तर में यों सर्वस्व का निगरण करती हुई यही अशनाया सर्वस्व का ही सर्वनाश करती हुई स्वयमपि उत्क्रान्त हो जाती है। एवं इसी दृष्टि से इसे 'महापाप्मा' कह देना भी अक्षरशः अन्वर्थ बन जाता है। इत्थंभूता अशनायारूपा बुभुक्षा ने-भूख ने-अन्न का आहरण कर इसे शारीराग्नि में आहुत किया। इस आहुत अन्न की रसात्मिका जो प्रथमावस्था है, वही ऋषिदृष्टि में-'ऊर्क्' तत्त्व कहलाया है, जिसे हम अन्न और प्राण की मध्यावस्था कह सकते हैं। पूर्व में हमनें रसासृङ्मांसादि सात पार्थिव धातुओं के अनन्तर अन्तिम शुक्रधातु के विशकलन से सम्बन्ध रखने वाले 'ओज' नामक आन्तरिक्ष्य धातु को

'ऊर्क्' कहा था। एवं यहाँ भुक्तान्न की प्रथमा रसावस्था को ही 'ऊर्क्' कहा जा रहा है, इसमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। स्थूल से सूक्ष्म की ओर अभिमुख हो जाना ही अन्न की ऊर्क्ता है, जिसका चरम विकास तो यद्यपि शुक्रानन्तर ओज भाव पर ही होता है। तथापि क्योंकि इसका उपक्रम रसादि सातों पार्थिव धातुओं में से प्रथम रसधातु से ही हो जाता है। इसीलिए रसावस्था को भी यहाँ ऊर्क् मान लिया जाता है, जिसकी कि अन्त के शिवतम-रसात्मक दिव्यप्राण की अपेक्षा से मध्यस्थता दोनों ही दृष्टिकोणों से सुसमन्वित है।

अन्न की सूक्ष्मा रसावस्था ही 'ऊर्क्' है, यही निवेदन निष्कर्ष है, जो कि इत्थंभूत ऊर्क्-रस, जीवनीय रस, किंवा जीवनशक्ति कहलाया है। परिभाषानुसार 'ऊर्क्' शब्द भी अपना स्वरूप स्वयं ही अभिव्यक्त कर रहा है। जिसप्रकार वृष्टिजल के सम्बन्ध होते ही वृक्ष-लता-गुल्मादि का पत्ता पत्ता थिरक उठता है, प्रसादगुणान्विता ओजस्विनी विकासशक्ति-लक्षणा जीवनीयशक्ति से समन्वित हो पड़ता है, ठीक उसी प्रकार प्रचण्ड बुभुक्षा की अवस्था में भोजन करते समय ज्यों ज्यों अन्नग्रास जलाभिषेक-माध्यम से गलाधःकरणानुकूलव्यापार के द्वारा अन्तःप्रविष्ट होते जाते हैं, त्यों त्यों हमारे नेत्रों में, अन्यान्य अङ्ग-प्रत्यङ्गों में एकप्रकार का उद्दीपन-भाव-ओजभाव-विकासभाव अभिव्यक्त होता रहता है। भोजनानुगता इस तात्कालिकी उद्दीप्ति का जो आधारबिन्दु है, वही प्राण का पूर्वरूप माना गया है, एवं यही 'ऊर्क्' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके विशेष-रूपेण समन्वित रहने से ही पयस्विनी गौमाता 'ऊर्जस्विनी' कहलाई है। पेय पदार्थों में जीवनीय रसात्मक * गौदुग्ध में, वनस्पतियों उदुम्बर

---

* स्वादु पाकरसं स्निग्धं-ओजस्यं-धातुवर्द्धनम्।
प्रायः पयः, तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्॥

—अष्टाङ्गहृदय

(गूलर) नामक वृक्ष के एतन्नामक फलों में, नक्षत्रों में 'लुब्धक' नामक पशुपतिनक्षत्र में इस ऊर्क्‌रसात्मक सर्वरस का विशेष आधान माना गया है। उद्दीप्तिप्रवर्त्तक, स्वयमपि उद्दीप्तिलक्षण यह अन्नरसात्मक ऊर्क्‌रस ही अन्तर्य्यामसम्बन्ध के द्वारा प्राण के साथ सायुज्यभाव प्राप्त करता हुआ, दूसरे शब्दों में स्थितिभाव में आता हुआ प्राणरूप में परिणत हो जाता है। निष्कर्षतः प्राण, एवं अन्न की मध्यावस्था ही 'ऊर्क्' है। इसप्रकार पूर्वकथनानुसार अन्न से 'ऊर्क्', ऊर्क् से प्राण का विस्रंसन, अशनाया का पुनः जागरण, पुनः अन्नाहरण, इत्येवंरूपेण जो धारावाहिक, अन्योऽन्य अनुग्राह्य-अनुग्रहात्मक क्रम प्रक्रान्त है, चल रहा है, यावदायु-र्भोगपर्य्यन्त चलता रहेगा, वही आध्यात्मिक यज्ञ माना गया है।

अब दो शब्दों में अधिभूत, तथा अधिदैवत यज्ञों के स्वरूप का भी समन्वय कर लीजिए। स्पष्ट है कि ज्योतिष्चक्रात्मक खगोलीय मध्य के 'बृहतीच्छन्द' नामक विषवद्वृत्त के केन्द्र में स्थिररूप से सहस्रांशु सूर्य्य प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि—'सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति'—'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः'—'नैवोदेता नास्तमेता मध्ये एकल एव स्थाता'—इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है। वैदिक विज्ञान के सम्पर्क से पराङ्मुख वर्त्तमान आसुरज्योतिःशास्त्र जहाँ भूपिण्ड को 'स्थिर' एवं सूर्य्य को चल मान रहा है, वर्त्तमान भूतविज्ञानवादी जहाँ पृथिवी को चल, एवं सूर्य्य को स्थिर मान रहा है, वहाँ भारतीय वैदिक विज्ञान की दृष्टि से इन स्थिर-चर-भावों का अपेक्षाभाव से ही सम्बन्ध माना गया है। दृश्यस्थिति के अनुसार पृथिवी स्थिर है, धरा है, धरित्री है, एवं सूर्य्य गतिमान है, यह दृश्यस्थिति ही—

आकृष्णेन रजसावर्त्तमानो विवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च ।
हिरण्मयेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

इत्यादि वेदमन्त्र से प्रमाणित है। किन्तु प्रकृति की स्थिति की अपेक्षा से पृथिवी-गतिमती है, सूर्य्य तदपेक्षया स्थिर है। पूर्वोक्त वचन इसी प्राकृतिक स्थिति की दृष्टि से सूर्य्य को स्थिर मान रहे हैं, पृथिवी को चल। 'नैवोदेता नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता' इत्यादि छान्दोग्यश्रुति कह रही है कि, सूर्य्य का जो उदय, तथा अस्त माना जाता है, वह पार्थिव परिभ्रमणनिबन्धन ही है। वस्तुतः न सूर्य्य का उदय होता, न अस्त। अपितु वह इस रोदसी ब्रह्माण्ड में बृहतीछन्द पर स्थिर रूप से ही प्रतिष्ठित है, जिसके चारों ओर अपने क्रान्तिवृत्त के आधार पर भूपिण्ड परिक्रमा लगाता रहता है। चन्द्रमा का एक पारिभाषिक नाम 'सोम' भी है, जैसा कि—'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमाः' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। एवमेव भूपिण्ड का एक पारिभाषिक नाम 'पूषा' भी है, जैसा कि—'इयं वै पृथिवी पूषा' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। यह पूषा, और सोम, अर्थात् भूपिण्ड एवं चन्द्रमा दोनों देवरथात्मक अपने अपने क्रान्तिवृत्त-तथा दक्षवृत्तों के आधार पर सूर्य्य को केन्द्र बनाते हुए सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। इनकी इस परिक्रमा से सौर मधुरस का इन दोनों में आदान होता रहता है, जो कि मधुरस पार्थिव प्रजा के जीवन का आधार माना गया है। इसप्रकार अपनी परिक्रमा से वे दोनों मानों विश्वप्रजा का क्षेम ही व्यवस्थित कर रहे हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर वेदपुरुष ने कहा है—

सोमः, पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता ॥

—ऋक् संहिता।

भूपिण्ड परिभ्रममाण है, इस दृष्टि से परिचित भी वर्त्तमान विज्ञान सम्भवतः इस दृष्टि का कोई निश्चयात्मक समाधान अब तक न कर स.. होगा कि, भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर घूमता क्यों है?। जब कि वेदविज्ञान विस्पष्ट शब्दों में इस 'क्यों' का भी समाधान कर रहा है। देखिये!

यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्, यद् भूमिं व्यवर्त्तयत्।
चक्राण ओपशं दिवि॥

—ऋक् संहिता।

मन्त्र का अक्षरार्थ यही है कि, "यज्ञ ने सौर इन्द्रप्राण को बलप्रदान किया। यज्ञबल से बलवान् बने हुए वृषभ रूप सौर इन्द्र नें अपने रश्मि-रूप सींगों से भूपिण्ड पर प्रचण्ड आघात किया, एवं इस आघात से इन्द्र ने भूपिण्ड को घुमा डाला।" मन्त्रानुगत यज्ञ, इन्द्र, ओपश, सींग, आदि का क्या तात्त्विक स्वरूप है?, प्रश्न के समाधान के लिये तो भूतविज्ञानवादियों को वैदिकविज्ञान की शरण में ही आना चाहिये। तो हमनें देखा कि, दृश्य स्थिति जहाँ भूपिण्ड को स्थिर, एवं सूर्य्य को चल मान रही है, वहाँ प्राकृतिक स्थिति की अपेक्षा से भूपिण्ड चल है, एवं स्थिर है। वर्त्तमानयुग के जो वेदाभिमानी भारतीय आर्यसर्वस्वरूप पुराणशास्त्र के रहस्यात्मक समन्वय से वञ्चित रहते हुये 'पुराण' को 'गप्प' मान बैठने का जघन्य प्रयत्न करते रहते हैं, उन्हें पुराणशास्त्र के

"नैवास्तमनमर्कस्य--नोदयः सर्वदा सतः।
उदयास्तमनं चैव—दर्शनादर्शनं रवेः॥"

इस वचन की ही आराधना करनी चाहिये, जो विस्पष्ट शब्दों में पूर्वोक्त वैदिक पार्थिव परिभ्रमणसिद्धान्त का अक्षरशः अनुगमन करता हुआ—

'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इस चिरन्तन आस्था को दृढ़-मूल प्रमाणित कर रहा है।

क्या यह स्थिर-चर विमर्श सूर्य्य पर ही परिसमाप्त है ?। नहीं। अभी तो वह तीसरा दृष्टिकोण और शेष है, जिसका सृष्टिमूला विश्वविद्या से सम्बन्ध माना गया है, एवं जिसका वर्त्तमान भौतिक विज्ञान ने वर्त्तमानक्षण पर्य्यन्त तो संस्पर्श भी नहीं किया है। सृष्टिमूला विश्वविद्या के रहस्यपूर्ण विज्ञानसिद्धान्त के अनुसार प्रकृत्या स्थिर बना रहने वाला सूर्य्य भी तत्त्वतः आत्यन्तिक रूप से 'स्थिर' नहीं है। अपितु परिभ्रम-माणा सचन्द्रा पृथिवी को अपने ज्योतिर्म्मय हिरण्मय मण्डल की महिमा के गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले सूर्य्यनारायण आपोमूर्त्ति 'परमेष्ठी' के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। इन सब विवर्त्तों को बुद्बुद्वत् स्वगर्भ में भुक्त रखने वाले परमेष्ठी क्या स्थिर हैं ?। नहीं। ये भी इन सब विवर्त्तों को साथ लिये हुये 'स्वयम्भू' के चारों ओर परिभ्रममाण हैं। जिन इन दोनों सौर-पारमेष्ठ्य परिभ्रमणविद्याओं के आधार पर ही विश्व की दशविधा महाविद्याओं का वितान हुआ है, जो अन्य वक्तव्य का विषय है। स्वयम्भू सत्य सर्वथा स्थिर है, जिसे 'परमाकाश' माना गया है, एवं जिसका-'यो ऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो ऽङ्ग वेद यदि वा-न वेद' इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है। भूपिण्ड से आरम्भ कर पारमेष्ठ्य ब्रह्माण्ड पर्य्यन्त सम्पूर्ण अलातचक्र प्रचण्डरूप से परि-भ्रममाण है। यही गतिरूप परिभ्रमण एक दूसरे मण्डल-पिण्डों में परस्पर आदान-विसर्ग सम्बन्ध प्रक्रान्त किये हुये है। आदानविसर्गात्मिका यही विश्वप्रक्रिया आधिदैविक नित्य यज्ञ का एक प्रकार का दृष्टिकोण है, जिसका प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक सूर्य्यपिण्ड के माध्यम से निम्न लिखित रूप से समन्वय किया जा सकता है।

सहस्रांशु सूर्य्य बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित है, यह निवेदन किया जा चुका है। अत्र प्रतिष्ठित सूर्य्यनारायण अपने सावित्राग्निगर्भित-गायत्रीमात्रिक तत्त्ववेदावच्छिन्न--इन्द्रज्योतिर्म्मय--सहजसिद्ध एति--प्रेतिलक्षण, आदानविसर्गभावापन्न, प्राणदपानद्रूप रोचनामय रश्मिभावों से विश्वानुगता रोदसी त्रिलोकी में भुक्त-गर्भित-प्रतिष्ठित पार्थिव, आन्तरिक्ष्य, दिव्य-पदार्थों के, मानव-पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि जङ्गम जीवों के, ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्मादि अन्तःसंज्ञ जीवों के, एवं धातूपधातु-रसोपरस-विषोपविष-लोष्ट-पाषाणादि असंज्ञ स्थावर जीवों के स्वरूप-निर्म्माण में प्रतिक्षण विस्रस्त होते रहते हैं। अर्थात् सौर प्राण प्रवर्ग्य बन कर सूर्य्य के ब्रह्मौदनभाग से पृथक् होकर तथोक्त भूत-भौतिकादि स्थावर जङ्गम-पदार्थों का स्वरूपनिर्म्माण किया करता है, जैसाकि—'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः, अत्यन्नर्थाः कृण्वन्नपांसि'—'अस्य प्राणदपानती व्यख्यन् महिषो दिवम्' इत्यादि मन्त्रश्रुतियाँ से प्रमाणित है। अवश्य ही इस सम्बन्ध में यह तो मान ही लेना पड़ेगा कि, सौरमण्डल के सान्निध्य में कोई वैसा अजस्र कोश सुरक्षित है, जिससे अपने प्राणात्मक भूतों को इन पदार्थों के निर्म्माण में प्रभूतमात्रा से अनवरत विस्रस्त करते हुए भी, खर्च करते हुए भी सूर्य्यनारायण कभी स्वप्राण भूतस्वरूप से सर्वात्मना क्षीण नहीं हो जाते, निःशेष नहीं बन जाते। प्राणात्मक भूत के ज्योतिर्म्मय पिण्ड रूप प्रत्यक्ष दृष्ट सूर्य्यनारायण यदि अपनी प्राणमात्राओं, तथा भूतमात्राओं से यों निरन्तर विस्रस्त होते रहते हैं, तो अवश्य ही इन्हें कालान्तर में विनष्ट हो जाना चाहिए था, स्वस्वरूप से विलीन हो जाना चाहिए था।

और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि-'संयोगा विप्रयोगान्ताः, पतनान्ताः समुच्छ्रयाः, जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इत्यादि

प्राकृतिक सिद्धान्तानुसार सृष्टयवसानात्मक अवसानकाल में सूर्य्य स्वप्रभव आपोमय उस पारमेष्ठ्य सरस्वान् नामक महासमुद्र में विलीन हो ही जायगा, जिस इस पिण्डात्मक आङ्गिरस सूर्य्य की उस पारमेष्ठ्य समुद्र के समतुलन में–द्रप्सश्चस्कन्द' इत्यादि वेदमन्त्रानुसार एक बिन्दु के समान स्वरूपस्थिति मानी गई है, अतएव इसी वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार जो सूर्य्य पुराणशास्त्र में इस पारमेष्ठ्य समुद्र के समतुलन में एक स्वल्पकाय बुद्बुद ही माना गया है। आपोमय पारमेष्ठ्य महासमुद्र में ऋतभावापन्न भार्गव, तथा आङ्गिरस प्राण इतस्ततः प्रचण्डवेग से अनुधावन करते रहते हैं। भार्गव दाह्य सौम्य प्राणों से समन्वित आङ्गिरस दाहक आग्नेय ऋतप्राण शत–सहस्र–लक्ष–कोटि–अर्बुद–परिणामों से मित प्रचण्डतम अग्निपुञ्जों–अग्निशिखाओं के रूप में परिणत रहते हुए उस महासमुद्र में इतस्ततः भैरवात्मक भीषण रव-भीषण-गर्जन–तर्जन-रूप से इतस्ततः चंक्रमण करते हुए दोधूयमान हैं, जोकि इत्थंभूत ये पारमेष्ठ्य आङ्गिरस ऋताग्निपुञ्ज–'हरयो धूमकेतवः' इत्यादि श्रुति के अनुसार धूमकेतु कहलाए हैं। सहस्र–सहस्र–संख्यानुगत इन धूमकेतुओं में से कोई सा एक धूमकेतु–एक आङ्गिरस ऋताग्निपुञ्ज स्वयम्भूप्रजापति की हृच्छक्ति–केन्द्र–शक्ति से शनैः शनैः केन्द्रीभूत बनता हुआ कालान्तर में–'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' इस लक्षणानुसार केन्द्रावच्छिन्न पिण्डरूप में परिणत होता हुआ व्यक्त हो पड़ता है–इस पञ्चपर्वा ब्रह्माण्ड के केन्द्र में। यही हिरण्यगर्भ सूर्य्यनारायण के आविर्भाव का सङ्क्षिप्त इतिवृत्त है।

इत्थंभूत सूर्य्यनारायण अपनी प्राण तथा भूतमात्राओं को अजस्ररूप से भूतभौतिक प्रजास्वरूपनिर्म्माण में विस्रस्त करते रहने के कारण कोई

सनातन तत्त्व नहीं है। अवश्य ही कभी न कभी अपने इस पिण्डभाव से विलीन हो ही जाना पड़ेगा अपनी मूलभूता उसी अग्निपुञ्जभूता ऋतावस्था में आकर। पुनः किसी अन्य अग्निपुञ्ज से अन्य सूर्य्य का अविर्भाव होगा। और यों सम्भूति एवं विनाशात्मक यह सृष्टि-लय-क्रम 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूप से निरन्तर चलता ही रहेगा। यह सब कुछ मान लेने पर भी एक सृष्टिकाल से आरम्भ कर सृष्टि के अवसान पर्य्यन्त जिस कौशल से, तथा जिस जागरूकता से सूर्य्यनारायण अपने प्राण, तथा भूतों का विस्रंसन कर रहे हैं, धारावाहिकरूप से सृष्टिकाल-पर्य्यन्त प्रक्रान्त रहने वाला यह विस्रंसनधर्म्म ही यह प्रमाणित करने के लिए पर्य्याप्त हेतु है कि, जिस प्रकार शतायुर्भोगकालात्मक मानव-जीवन में हम अपनी प्राण-भूत-मात्राओं का अजस्र दान-विसर्ग-विस्रंसन-करते हुए भी पूर्वनिर्दिष्ट अन्नोर्क्प्राणों के अन्योऽन्य-परिग्रहात्मक आध्यात्मिक यज्ञसन्तान के अनुग्रह से स्वप्राण-भूत-संस्थात्मिका अपनी अध्यात्मसंस्था को सौ वर्ष की अवधि पर्य्यन्त सुरक्षित रख लेने में समर्थ बने रहते हैं, ठीक इसी प्रकार मानववर्षानुपात से ४३,३२,-००००००० तिर्आलीस अर्ब, बत्तीस करोड़ वर्षात्मक सूर्य्यनारायण के शतायुर्वर्षात्मक जीवनकाल में निश्चयेनैव सूर्य्यनारायण भी स्व-प्राण-भूतमात्राओं की दान-विस्रंसन-विसर्ग-भावों की क्षतिपूर्त्ति के लिए किसी आदानविसर्गात्मक वैसे महान् अन्नकोशाहरणात्मक यज्ञ की अपेक्षा रखते ही होंगे, जिस कोशान्न के धारावाहिक चंक्रमण से इनकी अपनी आयु की अवधि पर्य्यन्त इनका स्वरूप सुरक्षित रहता है। वही अन्नकोश इनका विच्छिन्नसन्धाता-क्षतिपूरक बनता रहता होगा, जो कि अन्नकोश सूर्य्यनारायण को प्राण, तथा भूतशक्तियाँ प्रदान करता रहता है, उस महान् अन्न का निरन्तर सौरसावित्राग्निप्राणों के साथ जो अन्तर्य्याम

सम्बन्ध सृष्टिदशा में प्रक्रान्त है, वही 'यज्ञ' कहलाया है। दूसरे शब्दों में सौरप्राण, तथा भूताग्नि के साथ सहजसिद्ध उस महान् अन्नकोश का जो अजस्र आहुतिसम्बन्ध है, वही सौरप्राणात्मक देवभाव की अपेक्षा से जहाँ 'आधिदैविकयज्ञ' कहलाया है, वहाँ वही सौरभूतभाव के अनुबन्ध से 'आधिभौतिकयज्ञ' कहलाया है। इसप्रकार सौरयज्ञ इन दोनों यज्ञसंस्थाओं की आधारभूमि बना हुआ है। इसी अन्नाहुति को लक्ष्य बना कर एक स्थान में ऋषि ने–'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्' इत्यादि रूप से सूर्य्य को 'अग्निहोत्र' नाम से व्यवहृत किया है।

प्राणात्मक इस सौर सावित्राग्नि में निरन्तर ही किसी न किसी अन्नात्मक तत्त्वविशेष की आहुति पड़ती रहती है। बड़ा ही रहस्यपूर्ण, अतएव विस्तारसापेक्ष है यह विषय कि, उस अन्न का क्या स्वरूप है ?, वह कहाँ प्रतिष्ठित है ?, कौन उसकी आहुति देता है ?, आहुतिद्रव्य आहुत होकर किन किन भावों में परिणत हो जाता है ? इत्यादि सृष्टिविज्ञानानुबन्धी महारम्भ प्रश्न इस स्वल्पकाय वक्तव्य में कदापि समाहित नहीं हो सकते। इसके लिए तो वैदिक विज्ञानविश्लेषक ब्राह्मणग्रन्थों के आधार से संहिताशास्त्र का अध्ययन ही अपेक्षित होगा। प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही संस्मरणीय है कि—

त्वमिमा ओषधीः सोम ! विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥

"हे सोमदेवते ! आप ही नें सम्पूर्ण ओषधियों को जीवनीय सौम्य रस प्रदान किया है। आप ही नें पारमेष्ठ्य भार्गव अप्तत्त्व को उत्पन्न किया है। आप ही नें–पारमेष्ठ्य पञ्चदशाह नामक गोसव यज्ञ की मूला-

धारभूता-इट्-ऊक्-समन्विता प्राणात्मिका गौ को उत्पन्न किया है। आप ही अपने सहजसिद्ध ऋतरूप से इस ऋतभावात्मक विशाल अन्तरिक्ष सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। और आप ही नें अपने (दाहगुण) से सम्बन्ध रखने वाले ज्योतिर्भाव से इस त्रैलोक्य के घनीभूत अन्धकार को फाड़ कर सर्वत्र प्रकाश कर दिया है" इत्यादि अक्षरार्थ से समन्वित उक्त ऋक्-मन्त्र के द्वारा उपवर्णित 'अम्भः'–'पवमान'–पवित्र" आदि विविधरूपों से उपस्तुत, 'ब्रह्मणस्पति' नाम से याज्ञिक परिभाषा में प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य दाहगुणक भार्गव सोमतत्त्व ही वह विशेषतत्त्व है, जिसकी सौर-सावित्राग्नि में अजस्ररूपेण 'आहिति' होती रहती है, जो कि, 'आहिति' शब्द ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में–'आहुति' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

सौर हिरण्मय मण्डल में आप जो यह ज्योतिर्म्मय प्रकाशात्मक विकास देख रहे हैं, क्या यह स्वयं सूर्य्य का प्रकाश है ?। नहीं। क्योंकि सौरसावित्राग्नि का तो कोई अपना व्यक्त भौतिक स्वरूप ही नहीं है। यदि अभ्युपगमवाद से इस प्राणाग्नि का कोई स्वरूप, किंवा वर्ण मान भी लिया जायगा, तो वह 'कृष्ण' ही होगा, जो कि अव्यक्तभाव का समसम्बन्धी बना रहता है। इसीलिए तो सूर्य्य की रजोभावात्मिका प्राणाग्निरश्मियाँ 'कृष्ण' वर्णरूप से ही उपस्तुत हैं। देखिए !

आकृष्णेन रजसावर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्मयेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

अपने इसी प्राणात्मक कृष्णभाव से सौरप्राणाग्नि सुसूक्ष्मदृष्टि से अन्वेषण का ही लक्ष्य माना गया है। यही अन्वेषणभाव पारिभाषादृष्टि से 'मृग्यमाण' कहलाया है। एवं इसी मृग्यमाणता से यह वेदत्रयीमूर्त्ति

सौर-प्राणाग्नि 'मृग' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्र-ब्राह्मणश्रुतियों से प्रमाणित है—

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताल्हि वि मृधो नुदस्व ॥
—ऋक्सं० १०।१८०।२।

'योऽयमेतर्हि—अग्निः—स भीषा निलिल्ये' (शत० १।२।३।१)।
स कृष्णो भूत्वा चचार (शत० १।१४।२।)—
यज्ञो हि वै कृष्णः- (मृगः) (शत० ३। ।१।२८।) ।

यह सुविदित है कि, आर्षप्रजा कृष्णमृगचर्म्म (काले हरिण के चर्म्म) को अत्यन्त ही पवित्र मानती है, जबकि दूसरी ओर अन्य चर्म्मों के स्पर्शमात्र से भी यही प्रायश्चित्त का विधान करती है । क्या महत्त्व है कृष्णमृग का, एवं इसके चर्म्म का ?, प्रश्न साधारण है, किन्तु समाधान महारम्भ सौर सावित्राग्निविज्ञान के तात्त्विक समन्वय पर अवलम्बित है। यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय, तो अत्युक्ति न होगी कि, भारतवर्ष की सम्पूर्ण गौरवगाथा इस 'कृष्णमृग' शब्द के गर्भ में ही अन्तर्निहित है, जिसके रहस्य का समन्वय केवल जड़-भूतविज्ञान के माध्यम से कथमपि समन्वित नहीं हो सकता । वर्त्तमान युग के पुरातत्त्ववेत्ता, तथा इतिहास के मर्म्मज्ञ विद्वान् आज 'भारत' नाम के समन्वय में परस्पर अहमहमिका के अनुगामी बने हुए हैं। यदि कोई महाभाग दौष्यन्ति भरत के माध्यम से इस देश की भारत-अभिधा का समन्वय करने के लिए आतुर है, तो नास्तिसार शून्य-क्षण-वादी अमुक मतवादविशेष के ध्वंसरूप से अवशिष्ट एक विशेष वर्ग यह यश ऋषभदेव को प्रदान करनें के लिए आकुल बना हुआ

है। महान् गौरव के साथ संस्मरणीय दौष्यन्ति भरत, किंवा तो महाप्राण अविस्मरणीय ऋषभदेव के यशःशरीर को अणुमात्र भी अभिभूत न करते हुए इस दिशा में हमें सनातनसिद्ध उस श्रौत दृष्टिकोण की ओर ही भारतराष्ट्र की आर्षप्रजा का ध्यान आकर्षित करना पड़ेगा, जिसका किसी मानवीय कल्पना से अणुमात्र भी सम्पर्क नहीं है। एवं जिस दृष्टिकोण का विशुद्ध 'आग्नेय प्राणविज्ञान' से ही सम्बन्ध है। अतएव जो इत्थंभूत तात्त्विक विज्ञानसम्मत दृष्टिकोण ही इस महद्भाग्यशाली पवित्रतम राष्ट्र की 'भारत' उपाधि का मुख्य आधार बना हुआ है।

'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारत' इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार इस राष्ट्र की यज्ञियप्रजा के भरण-पोषण का समस्त उत्तरदायित्व ग्रहण करनें वाले स्वस्वरूप से कृष्णभावापन्न, अतएव 'मृग' नामक 'भारत अग्नि' ही मानें गए हैं, जो प्रकृतिसिद्ध नित्य चातुर्वर्ण्य की अपेक्षा से ब्राह्मणवर्ण से समन्वित हैं। **'अग्निर्वै देवेभ्यो हव्यं भरति, तस्माद् भारतोऽग्निः'** इत्यादि ब्राह्मणश्रुति भी इसी दृष्टिकोण का विस्पष्ट शब्दों में स्पष्टीकरण कर रही है। यह भी प्रत्यय सार्वजनीन है कि, भारतवर्ष, किंवा पूर्वदेश अग्निप्रधान बनते हुए जहाँ **'ऐन्द्रदेश'** हैं, वहाँ प्रतीच्य देश अप्प्रधान बनते हुए **'वारुण देश'** हैं। यह देश विकास शील अग्नि का देश है। अग्नि भारत है, अतएव यह देश 'भारत' कहलाया है, जो हमारी भावुकता से कालान्तर में 'हिन्दुस्तान' जैसी सीमित अभिधा पर विश्रान्त हो पड़ा है। भारतअग्नि ही वह कृष्णमृग है, जिस इत्थंभूत प्राण की प्रधानता से तत्प्राणीविशेष भी 'कृष्णमृग' नामों से प्रसिद्ध हो गया है। कृष्णमृग, काला हरिण इस कृष्णमृगरूप त्रयीविद्यात्मक 'भारत' नामक प्राणाग्नि का ही प्रतिरूप शिल्प

है। अतएव कृष्णमृगचर्म्म उसी प्राणातिशय से त्रयीविद्या का प्रतिरूप बनता हुआ अत्यन्त ही पवित्र प्रमाणित हो रहा है। मृगछाला के शुचिभाव से कौन आर्यमानव अपरिचित होगा ?, जिसके वेष्टन के बिना वेदविज्ञानाधिकारप्राप्तिसूचक यज्ञोपवीतसंस्कार ही सम्पन्न नहीं होता। कृष्णमृगचर्म्म के इसी अतिशय को लक्ष्य बना कर वेदभगवान् ने कहा है—

'अथ कृष्णाजिनमादत्ते—यज्ञस्यैव सर्वत्वाय। यज्ञो ह देवेभ्यो-ऽपचक्राम। स कृष्ण-मृगो भूत्वा चचार। तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छाय आजह्रुः। तस्य यानि शुक्लानि लोमानि, तानि साम्नां रूपम्। यानि कृष्णानि लोमानि, तान्यृचाम्। यान्येव बभ्रूणीव हरीणि लोमानि, तानि यजुषां रूपम्। सैषा त्रयीविद्या यज्ञः। तस्या एतच्छिल्पमेष वर्णः। तस्मात् कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते, यज्ञस्यैव सर्वत्वाय'' (शत० १।१।४। १,२,३, कण्डिका)। 'ब्रह्मणो वा एतद् ऋक्सामयो रूपं, यत् कृष्णाजिनम्' (तै० ब्रा० २।७।३।३।)। एतद्वै प्रत्यक्षब्रह्मवर्चसम्-(यत् कृष्णाजिनम्)'(तां० ब्रा० १७।११।८)। तस्य अग्निः—स्वो लोकः, यत् कृष्णाजिनम् (शत० ६।४।२।६।)।

उक्त श्रौतार्थ का अनुसरण करने वाले राजर्षि मनु ने इसी आधार पर अपना यह उद्घोष अभिव्यक्त किया कि—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥

—मनुः २।२३।

अन्यदपि—यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तत्र धर्म्मं निबोधत॥

—स्मृतिः

कृष्णमृगचर्म्मानुबन्धिनी इस प्रासङ्गिकी पावनचर्चा को यहीं उपरत कर पुनः सौर यज्ञ की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। इत्थंभूत दाहकधर्म्मावच्छिन्न आङ्गिरस प्राणगर्भित इस सौर कृष्ण-भूताग्नि में दाह्यगुणक पारमेष्ठ्य भार्गव प्राणगर्भित भूत सोम की आहुति होती है। दाहक भूताग्नि के साथ सम्बन्ध करते ही दाह्य सोम प्रज्वलित हो पड़ता है। दाह्य-दाहक सोमाग्नि के सम्मिश्रण से समुद्भूत यह ज्योतिर्भाव ही 'प्रकाश' रूप सम्वत्सरयज्ञ है, जिसमें तमःप्रधान असुर कदापि प्रवेश नहीं कर पाते।

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रु ननु पुरा विवित्से॥

—ऋक् सं० १०।५४।२।

इसी प्राकृतिक रहस्य का दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि ने कहा है— जब तक यह पारमेष्ठ्य सोम सौर अग्नि में आहुत होता रहेगा, अग्नीषोमात्मक सौर यज्ञ तबतक स्वस्वरूप से सुरक्षित रहेगा। जिस दिन कालपरिपाकात्मक निग्रह से सोमाहुति का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जायगा, उस समय वही सौराग्नि अपने प्रातिस्विक तिग्म तेज से रूक्षभाव में आकर 'रुद्र' रूप में परिणत हो जायगा। यही रुद्रदेवता आरम्भ में चराचर विश्व को भस्मावशेष प्रमाणित करते हुए अन्ततोगत्त्वा स्वयमपि अपने अव्यक्त स्वरूप में विलीन हो जायँगे। और यों अग्नीषोमात्मक इस आधिदैविक-आधिभौतिक यज्ञ के उपशान्त होते ही सृष्टिविकासात्मक पुण्याहकाल तो हो जायगा निःशेष, एवं रात्रिकाल हो जायगा समुद्भूत, जिस इस सृष्टिसर्ग-लय भाव का स्वयम्भुमूला सृष्टिविद्याओं के माध्यम से वेदशास्त्र में विस्तार से

उपबृंहृत हुआ है। सम्भूतिरूपा यज्ञसृष्टि, एवं विनाशरूपा यज्ञप्रतिसृष्टि, सहजभावानुसार सर्ग, और प्रलय, दोनों ही इस प्राकृतिक यज्ञ के स्वरूप-धर्म्म ही मानें गए हैं, जैसा कि औपनिषद पुरुष ने कहा है—

सम्भूतिं च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥
—ईशोपनिषत्

सूर्य्य तो उदाहरणमात्र है। आप जितनें भी भूत-भौतिक पदार्थ देख रहे हैं, स्वस्वरूपसंरक्षण के लिए प्रत्येक पदार्थ स्व-स्वरूपानुपात से, ज्ञानान्न-कर्म्मान्न-आकाशात्मक शब्दान्न-वाय्वात्मक श्वासप्रश्वासान्न-अग्न्यात्मक तेजोऽन्न-जलात्मक स्नेहनान्न-पार्थिवात्मक-अनुष्णातीतान्न-भेद से सात भागों में विभक्त प्राजापत्य किसी न किसी अन्न की आहुति से अजस्ररूपेणैव समन्वित रहता है। क्योंकि-**'यत् सप्तान्नानि तपसा-जनयत् पिता'** इत्यादि श्रुति के अनुसार विश्वम्भर प्रजापति के महान् तप से समुत्पन्न इस सप्तान्नाहुति पर ही प्रजात्मक भूतों की जीवनसत्ता अवलम्बित है।

जिस पदार्थ के साथ जिस अन्न का अन्तर्य्याम सम्बन्ध हो जाता है, वही उस पदार्थ का आहुतिद्रव्य मान लिया गया है। प्रणगर्भित-भूताग्नि ही पदार्थ की स्वरूपपरिभाषा है। यही आहुतिग्रहण करने वाला है। एवं इसी को-'अन्नमत्तीति' निर्वचन से 'अन्नाद' नाम से व्यवहृत किया गया है। इस अन्नाद में आहुत होने वाला द्रव्य ही 'अद्यते' निर्वचन से 'अन्न' कहलाया है। आहुतिग्राहक अन्नाद के साथ आहुतिद्रव्यात्मक अन्न का ग्रन्थिबन्धनात्मक जो अन्तर्य्याम सम्बन्ध है, वर्त्तमान विज्ञानभाषा के अनुसार जो सम्भवतः रासायनिक सम्मिश्रणा-

त्मक सम्बन्ध है, वही 'यज्ञ' कहलाया है। और यही यज्ञ की सहज-परिभाषा है। सभी पदार्थ अपेक्षा भेद से आहुतिग्राहक भी हैं, आहुति द्रव्य भी हैं। अतएव सभी अन्नाद हैं, सभी अन्न हैं। अन्नाद दशा में वे ही पदार्थ आग्नेय हैं, अन्नदशा में वे ही पदार्थ सौम्य हैं। सब अपेक्षा-भेद से खाए जातें रहते हैं, सभी खाते भी रहते हैं। इसी आधार पर-**'सर्वमिदमन्नादः, सर्वमिदमन्नम्। अग्निषोमात्मकं जगत्। द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति-अत्ता चैव आद्यञ्च। शुक्रं चैव आर्द्रञ्च। यच्छुष्कं-तदाग्नेयम्, यदार्द्रं-तत् सौम्यम्'** इत्यादि निगमानुगमश्रुतियाँ व्यवस्थित हुई हैं।

पूर्वोपवर्णित यज्ञ के पदार्थस्वरूपभेद से खण्ड-खण्डात्मक अवान्तर असंख्य भेद हो रहे हैं। निरूपित तीनों यज्ञों के समन्वय-तारतम्य से ही आध्यात्मिकाधिदैविक यज्ञ, आध्यात्मिकाधिभौतिक यज्ञ, आधिभौतिकाधिदैविक यज्ञ, दैवकात्मिकभौतिक यज्ञ, आधिनाक्षत्रिक-यज्ञ, ग्रह-वाजपेय-राजसूय-चयन-अग्निष्टोम-अत्यग्निष्टोम-अप्तोर्य्यामस्तोम-षोडशीस्तोम-अतिरात्रस्तोम-अश्वमेध-राष्ट्रभृत-पुरुषमेध-गोमेध-गोसव-पञ्चदशाह-नवाह-अभिप्लव-पृष्ठ्य-तानूनप्त्र-सौत्रामणी-इष्टि--चातुर्म्मास्य-दर्शपूर्णमास-पशुबन्ध-ज्योतिष्टोम-गोष्टोम-आयुष्टोम-छन्दोमास्तोम--अयुग्मस्तोम-आदि आदि भेद से असंख्य विवर्त्तभावों में परिणत भारतीय यज्ञविद्या विज्ञान का वह महाकोश है, जिसे विस्मृत कर सचमुच आज भारतीय मानव केवल दर्शनव्यामोहन से ही व्यामुग्ध बन गया है। वृक्षयज्ञ-वनस्पतियज्ञ-जन्तुयज्ञ-धातुयज्ञ-आदि आदि भेद से यच्चयावत् स्थावर-जङ्गमात्मक भूतभौतिक विवर्त्त इस यज्ञसीमा में हीं अन्तर्भुक्त हैं। ऋषि-पितर-देवता-असुर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच- आदि आदि सर्वविध

प्रजावर्ग भी इसी यज्ञ के आधार पर उपजीवित हैं। 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' के अनुसार जड़-चेतनात्मक वस्तुमात्र प्रजापति की 'प्रजा' ही तो मानी जायगी। अव्ययप्रधान विश्वेश्वर के अक्षरप्रधान विश्वकर्त्ता के माध्यम से क्षरप्रधान विश्वात्मा नामक प्रजापति से भूतरूपेण जो कुछ भी व्यक्त है, वही तो प्रजापति का प्रजनन कर्म्म है, इस कर्म्म की प्रसूति ही तो प्रजाति है, प्रजाति ही तो प्रजा है। तत्पतित्त्वनिबन्धन से ही तो विश्वात्मा प्रजापति कहलाएँ हैं। क्या जानना चाहते हैं आप कि, यह प्रजा किससे उत्पन्न हुई ?। तो आज इस प्रश्न के समाधान में भी हम उस गीताशास्त्र का ही एक वचन आपके समक्ष उपस्थित करेंगे जिसके 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' इस आरम्भसूत्र के आधार पर ही प्रस्तुत विज्ञानसमन्वय उपक्रान्त बना है। भगवान् कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

—गीता ३।१०।

स्वयं प्रजापति ही मानो अनुग्रह कर अपने यज्ञविज्ञान के माध्यम से अपनी प्रजा से कह रहे हैं—कौन से प्रजापति ?। स्मरण कीजिये पूर्वप्रतिपादित ब्रह्मविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले पारिभाषिक परात्परा-भिन्न-अव्ययाक्षरात्मक्षर की समष्टिरूप षोडशी प्रजापति का, जिनका निम्न लिखित उदात्तभाषा में यों यशोगान किया है प्रजापतिविज्ञानवेत्ता भारतीय महर्षियों नें—

प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो, वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

—यजुःसं० १०।२०।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति, य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी।

—यजुःसं० ८।३६।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

—उपनिषत्

ये ही प्रजापति मानो सृष्टि के व्यक्तरूप-प्रदर्शन के माध्यम से ही प्रजा को सम्बोधन कर यह कह रहे हैं कि "मैं सृष्टिनिर्म्माण कर रहा हूँ, करता रहूँगा यज्ञ के ही द्वारा। अर्थात् भूतपरमाणुओं के अणु तथा स्कन्ध-भावों के पारस्परिक अन्तर्य्याम-सम्बन्धात्मक, अतएव अपूर्वभाव-सर्जनात्मक सम्मिश्रण के द्वारा अन्न-अन्नाद के चितिभाव से ही, तद्रूप यज्ञ से ही मेरा भूत-भौतिक सृष्टिक्रम शाश्वतीभ्यः समाभ्यः धारावाहिक रूप से चल रहा है"। यह जो सृष्टि का शाश्वत सनातन नियम है, इसी को महर्षियों नें-'यज्ञविज्ञान' उपाधि से विभूषित किया है। इस यज्ञ-विज्ञान के आधार पर जो वस्तुसंघात उत्पन्न हुआ है, हो रहा है, एवं होता रहेगा, वह है-वैकारिक जगत्, और यहीं विज्ञानशब्द के समन्वय के लिये पुनः कुछ विशेषरूप से समझना है।

मौलिक तत्त्वात्मक ब्रह्मविज्ञान विज्ञान की प्रथम धारा है। एवं इस तत्त्वात्मक ब्रह्मविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित यौगिक तत्त्व-सम्मिश्रणात्मक विश्वस्वरूप-सम्पादक यज्ञविज्ञान विज्ञान की दूसरी धारा है। प्रथमधारा पुरुषविज्ञानात्मिका ज्ञानधारा मानी गई है, एवं द्वितीय धारा प्रकृतिविज्ञानात्मिका विज्ञानधारा कहलाई है। एवं आरम्भ में प्रतिज्ञात इन्हीं दोनों विज्ञानधाराओं का-'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' इस वचन

के माध्यम से यथाक्रम अवतक समन्वय करने की चेष्टा हुई है। क्या भारतीय विज्ञानकाण्ड यज्ञविज्ञानात्मक प्रकृतिविज्ञान पर ही परिसमाप्त है ?, यह एक नवीन प्रश्न सहजरूप से ही उपस्थित हो पड़ता है भारतीय प्रज्ञा के सम्मुख, जिसका तथ्यपूर्ण समाधान करने में हम सर्वथा ही इसलिये असमर्थ हैं कि, इस प्रश्न के समाधान से सम्बन्ध रखने वाली जो तीसरी विकृतिविज्ञानधारा है, जिसे वर्त्तमान दृष्टिकोणानुसार हम 'भौतिकविज्ञान' कह सकते हैं, मेटिरियलसायन्स मान सकते हैं। उसके सम्बन्ध में दुर्भाग्यवश विगत कई एक शताब्दियों से केवल दर्शनमूलक 'ईक्षण' के ही व्यामोहन में व्यामुग्ध बनी रहने वाली भारतीय प्रज्ञा विज्ञानमूलक 'परीक्षण' से सर्वथा ही पराङ्मुख बन गई है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप परीक्षणात्मक विकृतिविज्ञान के पारम्परिक मूलसूत्र, जिनका सूत्ररूप से मूलसंहिताओं में, एवं व्याख्यारूप से तद्व्याख्याभूत ब्राह्मणग्रन्थों में परिभाषाओं के माध्यम से विस्तार से विश्लेषण हुआ है। परिभाषाज्ञान की विलुप्ति, पारिभाषिक शब्दों के विज्ञानसम्मत पारम्परिक अर्थों के परिज्ञान का अभाव, सर्वोपरि केवल ज्ञानात्मिका जगन्मिथ्यात्त्ववादभावना का काल्पनिक विजृम्भण, इत्यादि अनेक कारणप्रतिबन्धकों से भारतीय प्रज्ञा आज सर्वथैव वञ्चित हो गई है प्रकृतिविज्ञानमूला विकृतिविज्ञानधारा के सम्पर्क से।

इदमत्र विशेषरूपेण-अवधेयम्। 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस अनुगमश्रुति के आधार पर सम्पूर्ण भारतीय तत्त्वज्ञान को 'आत्मा, ब्रह्म, यज्ञ, भूत,' इन चार पादों-विभागों-श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, किया गया है। दर्शनभाषा में 'आत्मा' नामक प्रथम पाद को 'पुरुष' कहा जा सकता है, 'ब्रह्म' नामक द्वितीय पाद को 'मूलप्रकृति'

कहा जा सकता है, 'यज्ञ' नामक तृतीय पाद को 'प्रकृतिविकृति' कहा जा सकता है, एवं चौथे 'भूत' नामक पाद को 'विकार' कहा जा सकता है। प्रत्यक्षदृष्ट इन्द्रियसापेक्ष भूतभौतिक पदार्थों का 'विकार' पाद से सम्बन्ध है, अतएव इनकी समष्टि को 'विकारजगत्' कहा जा सकता है, एवं इसका विज्ञान ही 'वैकारिक विज्ञान' माना जा सकता है। इस वैकारिक भूतविज्ञान का मूलाधार ही 'प्रकृतिविकृति' नामक यज्ञतत्त्व है, जिसे 'यज्ञविज्ञान' माना जा सकता है। वैकारिकजगत् की दृष्टि से यही प्रकृति है, एवं मूलप्रकृतिरूप 'ब्रह्म' की दृष्टि से यही विकृति है। अतएव इसे 'प्रकृतिविकृति' रूपा सामूहिक अभिधा से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन रहा है। प्रकृतिविकृतिरूप इस यज्ञविज्ञान का मूलाधार क्षरब्रह्मात्मक विज्ञान ही 'मूलप्रकृति' है, यही 'ब्रह्मविज्ञान' है। एवं सर्वाधार-निराधार सर्वालम्बन-निरावलम्ब-आत्मतत्त्व ही 'पुरुष' है, जिस के लिये— 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' यह प्रसिद्ध है। सांख्यदर्शनानुगता सांख्यकारिका ने इसी दृष्टि से इन चारों विवर्त्तों का समन्वय किया है, जैसाकि निम्न लिखित ईश्वरकृष्णवचन से प्रमाणित है—

मूलप्रकृतिरविकृति, महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

—सां० का० ३।

सांख्यदर्शन केवल ईक्षणभाव से अनुप्राणित है। यही कारण है कि उसने केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही इन चारों का संग्रह किया है केवल तत्त्वमीमांसा के माध्यम से। इसी अध्यात्ममूला केवल 'ज्ञानदृष्टि' से इन चारों का २५ संख्याओं पर विश्राम हो रहा है। सांख्य की दृष्टि में मूलप्रकृति एकविधा है। महान्-अहङ्कार, तथा रूप-रस-गन्ध-

स्पर्श-शब्द-भेद से पञ्चधा विभक्ता सुप्रसिद्धा पञ्च तन्मात्राएँ, इन सातों आध्यात्मिक तत्त्वों की समष्टि 'प्रकृतिविकृति' है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ, एक मन, तथा पृथिवी-जल-तेज वायु-आकाश-ये पाँच आध्यात्मिक भूत, इन १६ सोलह विकारों की समष्टि ही सांख्यशास्त्र की 'विकृति' है। एकविधा मूलप्रकृति, सप्तविधा प्रकृतिविकृति, एवं षोड-शविधा विकृति, इन त्रितयात्मक चौबीस भावों के, संख्याओं के, तत्-परिगणन के माध्यम से लक्षीभूत बन जाने वाला, इनसे अतीत यः कश्चित् संख्यातीत, किन्तु संख्यातः सिद्ध विशुद्ध ज्ञानभाव ही सांख्य की दृष्टि में पच्चीसवाँ 'पुरुष' तत्त्व है, जो न प्रकृति है, न विकृति है। 'संख्यातः सिद्धं 'ज्ञानम्' ही 'सांख्य' शब्द का लोकानुबन्धी निर्वचन है, जिस इस केवल ज्ञाननिबन्धन-आचारात्मक विज्ञानपरीक्षण से सर्वथा असंस्पृष्ट सांख्य-ज्ञान के आधार पर ही कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा आविर्भूत हो पड़ी है दुर्भाग्य से इस देश में, जिसका गीताविज्ञानभाष्यादि में साटोप उप-बृंहण हुआ है।

अभी समझने मात्र के लिए यह कहा जा सकता है कि, सांख्य जिसे 'पुरुष' मान रहा है, उसे हम क्षराक्षरगर्भित परात्पराभिन्न 'अव्यय-ब्रह्म' कह सकते हैं, यही वेदशास्त्र का सर्वाधारभूत तुरीय 'आत्मपद' है। सांख्य जिसे 'मूलप्रकृति' कहता है, जिसे एकविध मानता है, उसे वैदिक दृष्टि से हम 'अक्षरब्रह्म' कह सकते हैं, जोकि गीता की परि-भाषा में अव्ययपुरुष की 'पराप्रकृति' कहलाया है, जोकि 'न क्षरति' रूप से विकारों से सर्वथा असंस्पृष्ट बना रहता हुआ केवल 'प्रकृति', किंवा 'मूलप्रकृति' ही कहा जा सकता है। सांख्य जिसे 'प्रकृतिविकृति' कहता है, जिसके महदहङ्कारादि सात विवर्त्त मानता है, उसे वैदिक दृष्टि से

हम 'त्तरब्रह्म' कह सकते हैं, जो कि गीतापरिभाषा में अव्ययपुरुष की 'अपराकृति' मानी गई है, जोकि अपने नित्यमहिमाभाव से सदैकरस रहती हुई जहाँ प्रकृति है, वहाँ विकार सर्जन–अनुबन्ध से विकृति भी बनी हुई है। इसी उभयधर्म्म से जिसे 'प्रकृतिविकृति' रूप उभयनाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। सांख्य जिसे 'विकार' कहता है, वही वैदिकदृष्टि से विकारक्षरात्मक 'विश्व' नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रकार सांख्य के "पुरुष-मूलप्रकृति-प्रकृतिविकृति-विकार"-इन चार संस्थानों को वैदिक दृष्ट्या अभी समझने मात्र के लिए क्रमशः "अव्यय–अक्षर–क्षर–विश्व" इन नामों से समन्वित माना जासकता है, जिन्हें कि इस अवधेय दृष्टिप्रसङ्ग के आरम्भ में क्रमशः "आत्मा–ब्रह्म–यज्ञ–भूत" इन नामों से व्यवहृत किया गया है। एक ही आत्मब्रह्म के इन चार पादों को लक्ष्य बना कर ही अब हमें नवीनरूप से ज्ञान–विज्ञानभावों का समन्वय देखना है।

उक्त चारों विवर्त्तों को समझने के लिए हमें थोड़ी देर के लिए समझने की चेष्टा करने वाले 'मानव' के स्वरूप को ही, इसकी अध्यात्म-संस्था को ही लक्ष्य बना लेना चाहिए। मानवस्वरूप का बाह्य दृश्य संस्थान ही 'शरीर' कहलाया है, जिस इस पाञ्चभौतिक प्रत्यक्षदृष्ट शरीर को–'स्थूलशरीर' माना गया है। इस स्थूलशरीर के अनन्तर मानव का दूसरा संस्थान विषयसंस्काररूप अर्थों से समन्वित इन्द्रियानुगत 'मन' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे व्यवहार में 'सूक्ष्मशरीर' मान लिया गया है। तदनन्तर मानव का तीसरा संस्थान है, जिसे 'बुद्धि' कहा जाता है, एवं जो 'कारणशरीर' मान लिया गया है। सर्वान्तरतम वह 'तत्त्व' जो बुद्धि से भी सुसूक्ष्म है–'आत्मा' नाम से व्यवहृत हुआ है। और यही मानव का

आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर-समन्वयात्मक वह सर्वस्वरूप है, जिसका गीता के शब्दों में ठीक क्रमानुपात से यों समर्थन हुआ है—

इन्द्रियाणि पराण्याहु, रिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धि, र्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

—गीता

क्योंकि उत्थान–उपक्रम शरीर से होता है। अतएव उसे स्वतन्त्ररूप से उद्धृत नहीं किया है। शरीर से पर, अर्थात् अनन्तर भी एवं सूक्ष्म भी इन्द्रियवर्ग है, जो सर्वेन्द्रियमन में ही अन्तर्भूत है। मन से पर बुद्धि, बुद्धि से पर जो कोई है, वही है आत्मा। कहते हैं सम्पूर्ण विश्व में एकमात्र मानव में ही आत्मतत्त्व स्वस्वरूप से अभिव्यक्त हुआ है। मानवेतर समस्त प्राणी जीवमात्र हैं, आत्मवान् नहीं। मानव जहाँ आत्मनिष्ठ है, वहाँ इतर प्राणी जीवभावमात्र पर विश्रान्त हैं, जिस इस रहस्यपूर्ण तत्त्व को विस्मृत कर देने से ही आज मानव अपनी उस आत्मनिष्ठा से वञ्चित रहता हुआ सर्वथा प्राणीसमानधर्म्मा ही बनता जारहा है। जबकि जीवभावात्मक अन्य प्राणी केवल प्राकृत बनते हुए 'जायस्व-म्रियस्व' पर ही उपशान्त हैं, अतएव जिनका जन्मान्तर से कोई सम्बन्ध नहीं है, वहाँ एकमात्र मानव ही अपने आत्मभाव से संस्कारग्रहण–योग्यता रखता हुआ जन्मान्तर का अनुगामी बना रहता है, जो कि यह रहस्य किसी अन्य वक्तव्य से ही सम्बन्ध रख रहा है। श्रुति ने एक स्थान पर कहा है-'पुरुषो वै प्रजापत्तेर्नेदिष्ठम्'। तात्पर्य्य–जैसा स्वरूप विश्वम्भर विराट्प्रजापति का है, ठीक वैसा ही स्वरूप इस पुरुषाभिध मानव का है। विराट् प्रजापति का प्रथम विवर्त्त भूपिण्ड है, तो मानव का प्रथम विवर्त्त पार्थिव शरीर है। प्रजापति का दूसरा विवर्त्त

चन्द्रमा है, तो मानव का द्वितीय विवर्त्त चान्द्र मन है। उसका तृतीय विवर्त्त सूर्य्य है, तो इसका तृतीय विवर्त्त सौरी बुद्धि है। उसका चतुर्थ-विवर्त्त सौरसंस्थात्मक लोकालोक से अतीत यदि आत्मा है, तो इसका भी चतुर्थ विवर्त्त शरीर-मनो-बुद्धि से अतीत आत्मा ही है। जैसा स्वरूप उसका है, ठीक वैसा ही स्वरूप इसका है। वह यदि पूर्ण है, तो यह भी पूर्ण है। क्योंकि उस पूर्ण से ही तो इस पूर्ण का प्रवर्ग्यरूप से पार्थक्य हुआ है। इस पूर्ण का स्वरूप लक्ष्य बना लेने से अन्ततोगत्त्वा दोनों का ऐकात्मक पूर्णभाव ही तो शेष रह जाता है। 'यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह' लक्षण इसी अभेद को लक्ष्य बनाते हुए ऋषिप्रज्ञा ने कहा है—

पूर्णमदः, पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

—ईशोपनिषत्

मानव का आत्मा प्रजापतिसंस्था के प्रथम आत्मपद से, बुद्धि ब्रह्मपद से, मन यज्ञपद से, एवं शरीर भूतपद से संगृहीत है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है।

आत्मा---आत्मा-अव्ययब्रह्म--	--आत्मा-आत्मा (पुरुषविवर्त्तम्)
सूर्य्यः---ब्रह्म---अक्षरब्रह्म---	--बुद्धिः--कारणशरीरम् (प्रकृतिविवर्त्तम)
चन्द्रमाः--यज्ञः---क्षरब्रह्म---	--मनः--सूक्ष्मशरीरम (प्रकृतिविकृतिविवर्त्तम)
पृथिवी--भूतम्---विकारः---	--शरीरम्-स्थूलशरीरम् (विकारविवर्त्तम्)
प्रजापतिरमानवः	पुरुषो मानवः

सैषा समतुलनस्थितिः । स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया ज्ञान-विज्ञान-शब्दार्थसमन्वयदृष्ट्या-एवं रूपेण । इस अवधेय दृष्टिकोण से पूर्व हमनें 'ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान' रूप से दो विज्ञानधाराओं का ही स्वरूपदिग्दर्शन कराया था, जब कि इन दोनों धाराओं के आदि में आत्मतत्त्व, एवं अन्त में भूतभाव, ये दो विवर्त्त प्रस्तुत दृष्टिकोण के द्वारा और उपस्थित हो जाते हैं । अतएव अब इन चारों की दृष्टि से ही हमें ज्ञान, तथा विज्ञान-शब्दों के समन्वय में प्रवृत्त होना पड़ेगा । ब्रह्मविज्ञान को यज्ञ-विज्ञान की दृष्टि से पूर्व में 'ज्ञान' कहा गया है, एवं यज्ञविज्ञान को तदपेक्षया 'विज्ञान' कहा है । और इसी दृष्टिबिन्दु के माध्यम से 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्०' इत्यादि श्लोकार्थ का समन्वय किया है । अब चारों विवर्त्तभावों के माध्यम से हमें इसी अनुगम श्लोक का समन्वय देखना है ।

सर्वान्तरतम सुसूक्ष्मतम अव्ययप्रधान आत्मा विशुद्ध ज्ञानात्मक है, यह पूर्व के ब्रह्मविज्ञान-स्वरूपनिरूपण प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा चुका है । अतः इस प्रथम आत्मपर्व को तो हम सम्पूर्ण विज्ञानसीमाओं-परीक्षणसीमाओं से सर्वथा पृथक् ही मानेंगे । उस विज्ञाता का विजान-नात्मक विज्ञान सर्वथा असम्भव है । अतएव वह हमारी ज्ञान-विज्ञान-सीमाओं से सर्वथा परे की वस्तु है-'**विज्ञातारमरे !वा केन विजानीयात् । यस्यामतं-तस्य मतं, मतं यस्य, न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां, विज्ञात-मविजानताम्-संविदन्ति न यं वेदा, विष्णुर्वेद न वा विधिः, यतो वाचो निवर्त्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह**' इत्यादि श्रौत उद्घोष उस के इस ज्ञान-विज्ञानसीमा के पार्थक्य का ही उद्घोष कर रहे हैं । जब कि शब्द की वहाँ गति ही नहीं, तो वेदशास्त्र उसका कैसे विश्लेषण

कर सकता है। केवल समझने-समझाने-मात्र के लिए उसे 'ज्ञान' नाम से व्यवहृतमात्र कर दिया जा सकता है। इसी आधार पर हम आत्मदेव के लिए 'ज्ञान' अभिधा की धृष्टता कर लेते हैं, जबकि तत्त्वतः उसके साथ किसी भी अभिधा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। **'अन्यदेव विदितात्, अथो अविदितादधि'** का भी यही रहस्यात्मक दृष्टिकोण है।

अब शेष रह जाते हैं ब्रह्म-यज्ञ-भूत नामक तीनों पर्व। ये तीनों पर्व वेदशास्त्र में विस्तार से निरूपित, अतएव 'ज्ञातव्य' कहे जा सकते हैं। इसी विजाननात्मक-ज्ञातव्यात्मक-विज्ञानभाव के अनुबन्ध से इन तीनों के साथ 'विज्ञान' शब्द का समन्वय मानते हुए तीनों को **'ब्रह्मविज्ञान-यज्ञविज्ञान-भूतविज्ञान'** इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। एवं यहाँ आकर अब यह कहा जा सकता है कि आत्मब्रह्म के आधार पर पूर्व में जिन दो विज्ञानधाराओं पर ही विश्राम हो रहा है, जो धाराएँ क्रमशः **'अक्षर-विज्ञान-क्षरविज्ञान'** इन नामों से, तथा 'प्रकृतिविज्ञान-विकारविज्ञान-इन नामों से भी व्यवहृत की जा सकती हैं। ज्ञानैकघन आत्मदेव जहाँ **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस श्रुति का लक्ष्य है, वहाँ- **'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** इस श्रुति से त्रिधारात्मिका ब्रह्म-यज्ञ-भूतविज्ञानत्रयी का संग्रह हो रहा है।

ॐ ज्ञानात्मा—अनन्तं ब्रह्म

१—ब्रह्म (अक्षरविज्ञानम्—प्रकृतिविज्ञानं वा)—ब्रह्मविज्ञानधारा
२—यज्ञः (क्षरविज्ञानम्—प्रकृतिविकृतिविज्ञानं वा) यज्ञविज्ञानधारा
३—भूतम् (विश्वविज्ञानम्--विकारविज्ञानं वा) भूतविज्ञानधारा

'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इत्याहुर्वैज्ञानिका महर्षयः

क्या तात्पर्य्य है हमारा इन तीन विज्ञानधाराओं से ?। एवं क्या उपयोग है इन तीन धाराओं का भारतीय मानव की उपयोगिता की दृष्टि से ?। जब हम पारिभाषिक दृष्टिकोण के आधार पर इन तीन विज्ञान-धाराओं के अर्थसमन्वय में प्रवृत्त होते हैं, तो इन तीनों के आधार पर क्रमशः ज्ञानधारा, उपासनाधारा, कर्म्मधारा, इन तीन अनुगमनीया धाराओं की ओर आकर्षित हो जाना पड़ता है, जिन इन तीनों धाराओं की सीमा में भारतीय आस्तिक मानव के ज्ञान–विज्ञान–कर्म्म–उपासना–भक्ति–धर्म्म–आचार–यज्ञ आदि आदि यच्चयावत् विभूतिभाव अन्त-र्भूत हो रहे हैं। ब्रह्मविज्ञान ही भारतीय ज्ञानकाण्ड का आधार माना गया है, यज्ञविज्ञान ही भारतीय उपासनाकाण्ड का अवलम्बन माना गया है। एवं भूतविज्ञान ही भारतीय कर्म्मकाण्ड का आश्रय माना गया है। मानव की स्वरूपसंस्था में उसका शरीर–मन–बुद्धि–ये तीन हीं तो पर्व ऐसे हैं, जिनकी दृढ़ता–स्थिरता–विकास से मानव अभ्युदय का अधिकारी बना करता है। शरीरानुगता दृढ़ता, तन्मूलक अभ्युदय भूत-विज्ञानाधार पर प्रतिष्ठित रहने वाले कर्म्मकाण्ड पर अवलम्बित है। मनोऽनुगता स्थिरता, तन्मूलक अभ्युदय यज्ञविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाले उपासनाकाण्ड पर अवलम्बित है। एवं बुद्ध्यनुगत, तन्मूलक अभ्युदय ब्रह्मविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित ज्ञानकाण्ड पर अवलम्बित है। यों भारतीय मानव अपनी तथाकथित तीनों विज्ञान-धाराओं के अनुग्रह से तदनुप्राणित ज्ञान–उपासना–कर्म्म का अनुगमन करता हुआ सर्वविध सर्वाङ्गीण अभ्युदय से भी समन्वित हो जाया करता है, एवं तद्द्वारा ही इसका स्वतः सिद्ध आत्मनिबन्धन निःश्रेयसभाव भी अक्षुण्ण बना रहता है। और यही भारतीय मानव की ज्ञानविज्ञाननि-

बन्धना अभ्युदय–निःश्रेयसमूला सर्व शान्ति-समृद्धि-ऋद्धि–पुष्टि–तुष्टि का वह चिरन्तन इतिहास है, जिसे विस्मृत कर आज यह शरीर से अस्वस्थ मन से अस्थिर–बुद्धि से अविकसित, तथा आत्मना अशान्त प्रमाणित रहता हुआ ही इतस्ततः दन्द्रम्यमाण है, एवं जिस इत्थंभूता इतस्ततः दन्द्रम्यमाणा पङ्क्ति में ही हमारा भी नाम सन्निविष्ट है। ऐसी स्थिति में हम क्या तो समाधान करने की क्षमता रखते हैं इन तीनों धाराओं की उपयोगिता के सम्बन्ध में, एवं क्या क्षमता रखती है आज की मादृश ही भारतीय प्रजा इनको सुन कर तदनुपात से कुछ कर सकने की ?।

जिस राष्ट्र की ब्रह्मविज्ञानात्मिका प्राजापत्यशास्त्रसम्मता मौलिक बुद्धयनुगता मौलिक–सहज ज्ञानधारा दुर्भाग्यवश विविध दर्शनवादात्मिका शून्य--क्षण--स्वलक्षण–भाव--निबन्धना–आत्मप्रतिष्ठाशून्या– नास्तिसारा–कल्पित–सत्य–अहिंसादिभावसमन्विता बुद्धिविकासप्रतिबन्धिनी अज्ञान-धाराओं से सर्वात्मना जिस आज के युग में अभिभूत हो गई हो, जिस राष्ट्र की यज्ञविज्ञाननिबन्धना मनोऽनुगता संवर–परिमर–पर्य्यङ्क–प्रवर्ग्य-उद्गीथ–चाक्षुषपुरुष–आदि आदि तत्त्वभावसमन्विता शक्तिस्रोतप्रवाह-शीला सहज उपासनाधारा भावुकतावश विविध मतवाद–सम्प्रदायवाद-सन्तवादात्मिका–झञ्झातालमृदङ्गवाद्यादि समाकुलिता–गन्धर्व्वाप्सराप्राणा-नुरञ्जिता प्रज्ञास्थिरताप्रतिबन्धिनी भक्तिधाराओं से जिस युग में सर्वात्मना कालवालीकृता प्रमाणित हो चुकी हो, एवं जिस राष्ट्र की भूतविज्ञाननिब-न्धना शरीरानुगता प्रकृतिसिद्ध यज्ञविज्ञानाधारेण व्यवस्थिता सर्वविध लौकिक–इष्टफल–प्रदानसमर्था राष्ट्रीय भौतिक ऐश्वर्य्यप्रदात्री कर्म्मधारा अविद्यास्मिताभिनिवेशरागाद्वेषवश विविध अकर्म्म–विकर्म्म–, विविध-कल्पित–अश्रुत–पूर्व वादात्मक उत्पथ कर्म्मधराओं से एकान्तः जिस आज

के युग में एकान्ततः अवरुद्ध हो गई हो, इत्थंभूत दुर्भाग्यपूर्ण- भावुकताक्रान्त-अभिनिविष्ट युग में भारतीय ज्ञान-उपासना-कर्म्मधाराओं के चिरन्तन इतिहास के सम्बन्ध में, तथा तन्मूलिका ब्रह्म-यज्ञ-भूत-विज्ञानधाराओं के सम्बन्ध में, इनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में इन्हीं वर्त्तमान युगभावों से आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः आपादमस्तक-आक्रान्त यह जन क्या कहे, कैसे कहे, किन से कहे, जबकि-आज की इस विभीषिका में-'**किं करोमि, क्व गच्छामि, को वेदानुद्धरिष्यति**' रूपा इसकी इस आर्त्तवाणी के प्रति स्वनामधन्य प्रातःस्मरणीय श्रीश्रीकुमारिलभट्टपाद जैसा एक भी तो प्राच्यसंस्कृतिनिष्ठ तद्रूप से ही आत्मोत्सर्ग कर देने वाला आश्वासनप्रदाता अद्यावधि भी तो इसे उपलब्ध नहीं हुआ। कालाय तस्मै नमः। '**किं कस्मै कथनीयं, कस्य मनः प्रत्ययो भवतु**' *।

अतएव उचित था कि, इस विज्ञानशब्द-समन्वय-प्रसङ्ग को अत्रैव उपरत कर दिया जाता। किन्तु...... । आश्वासन की एकमात्र आश्रयभूमि-'**उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्म्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथिवी**' इस कविसूक्ति की प्रेरणा से अपनी अज्ञता से अभिभूत रहते हुये भी हमें प्रक्रान्त अवधेय समन्वय के सम्बन्ध में किञ्चिद्‌ निवेदन करना ही पड़ रहा है। ब्रह्मविज्ञानात्मक प्रकृतितत्त्वात्मक विज्ञान वैसा मौलिक तत्त्व है, जिसका आचारात्मक कर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव इस ब्रह्मविज्ञानात्मक मौलिक विज्ञान का 'ज्ञान' में ही अन्तर्भाव हो जाता है, जिसे कि उपनिषदों ने-'**अथ परा, यया-**

---

*-गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः।

तद्क्षरमधिगम्यते' इत्यादि रूप से–'पराविद्या' कहा है। 'आत्म' स्वरूप विशुद्ध-निरपेक्ष-ज्ञानैकघन अव्ययब्रह्म से अभिन्न, अतएव यत्र तत्र 'अव्यय' नाम से भी व्यवहृत, 'क्षरब्रह्म' नामक भूतयोनि का आधारभूत अतएव एतन्नाम से भी उपस्तुत ब्रह्मविज्ञानात्मक सापेक्षज्ञानमूर्त्ति पराविद्या-मय इस अक्षरब्रह्म की इसी सूक्ष्मतमा स्थिति का परीक्षात्मक विज्ञान से पृथक्करण करने के लिये श्रुति ने कहा है—

यत्तदक्षरं-(ब्रह्मविज्ञानात्मकं)-अद्रेश्यम्, अग्राह्यम्, अगोत्रम्, अवर्णम्, अचक्षुःश्रोत्रम्, तदपाणिपादं, नित्यम्, विभुम्, सर्वगतम्, सुसूक्ष्मम्, तदव्ययम्, तद्भूतयोनिं, परिपश्यन्ति धीराः'।
(मुण्डकोपनिषत् १।६)।

'धीराः परिपश्यन्ति' यह उपसंहार वाक्य स्पष्ट ही ब्रह्मविज्ञानात्मक अक्षरविज्ञान की दर्शनभावनिवन्धना ज्ञानपक्षता का ही समर्थक बन रहा है। अतएव इसे हम 'विज्ञान' न कह कर 'ज्ञान' ही कहेंगे। एवं इसी दृष्टि से इसे अव्ययब्रह्मात्मक शुद्ध निरपेक्ष आत्मज्ञान की कोटि में ही अन्तर्भुक्त मान लेंगे। अब क्रमप्राप्त प्रकृतिविकृतिरूप क्षरब्रह्मात्मक वह यज्ञ-विज्ञान हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, जिसके आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक-स्वरूप का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। यही उपनिषदों की 'अपराविद्या' कहलाई है, यही वैदिक विज्ञान का प्रधान मूलस्तम्भ है। वेदशास्त्र में, विशेषतः वेदशास्त्र के ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-लक्षण संहिता भाग में अपराविद्यात्मक इसी यज्ञविज्ञान का–जिसे कि सृष्टिविज्ञान भी कहा जायगा—स्वरूपविश्लेषण हुआ है। वेदाङ्ग भी इसी में अन्तर्भूत हैं। महाशाल महर्षि शौनक के विधिवत् यह प्रश्न

करने पर कि, भगवन्! किसे जान लेने से यह सृष्टिप्रपञ्च सर्वात्मना जान लिया जाता है?, उस युग के परम वैज्ञानिक अङ्गिरा महर्षि के पुत्र, अतएव 'आङ्गिरस' इस उपनाम से प्रसिद्ध महर्षि भारद्वाज ने यही समाधान किया था कि—

'द्वे विद्ये वेदितव्ये-इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति-परा चैव, अपरा च। तत्र-अपरा-ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ऽथर्व्व-वेदः। शिक्षा-कल्पो-व्याकरणं-निरुक्तं-छन्दो-ज्यौतिषम्' इति।

—मुण्डकोपनिषत् १।४-५।

स्वयम्भू-व्योम-परमेष्ठी-वायु-सूर्य्य-तेज-चन्द्रमा-जल-ग्रह-नक्षत्र-पृथिवी-ओषधि-वनस्पति-धातु-अन्तःसंज्ञ-ससंज्ञ जीवसर्ग,-ऋषि-पितर-असुर-देव-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच-आदि देवयोनिसर्ग, पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज-आदि पार्थिव सर्ग, आदि आदि यच्चयावत्-प्राण-विध-प्राणीविध-भूतविध-विश्वसर्ग का स्वरूपनिर्म्माण-स्थिति-अवसान-जिन प्रकृतिसिद्ध नियमों के द्वारा धारावाहिकरूप से सञ्चालित है, उन सृष्ट्यनुबन्धी विधानों की रहस्यपूर्ण विद्या ही चरमब्रह्मविद्या है, यही यज्ञ-विज्ञान है. जो विज्ञानद्वारा ज्ञातव्यमात्र है मानव के लिये, जिसका कि प्रधानरूप से मूलसंहिताओं में विश्लेषण हुआ है। यही यज्ञविज्ञानात्मक प्रकृतिविज्ञान भारतीय 'विज्ञान' शब्द का प्रथम, तथा मुख्य दृष्टिकोण है। प्रधानरूप से हमनें इसी दृष्टि से प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थों में यत्रतत्र 'विज्ञान' शब्द का व्यवहार किया है। ज्ञातव्य विज्ञानात्मक यही ब्रह्म-विज्ञान प्रकृतिसिद्ध वह यज्ञविज्ञान है, जिसका पूर्वापात-'**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः**' इत्यादि गीतावचन से स्वरूपविश्लेषण हुआ

है । यह प्रकृतिसिद्ध यज्ञविज्ञान मानव के लिये केवल उपास्य ही बन सकता है, आचरण का लक्ष्य नहीं । अतएव आचारणात्मक-भूतपरीक्षणात्मक विज्ञान से इस प्राणपरीक्षात्मक नित्य यज्ञविज्ञान को विभक्त ही समझा जायगा ।

प्रकृतिसिद्ध-क्षरब्रह्मात्मक-'यज्ञविज्ञान' का यहाँ की ऋषिप्रज्ञा ने साक्षात्कार किया । एवं तदाधार पर तत्तत्प्राकृतिक-यज्ञिय--प्राणों के सम्मिश्रण से उत्पन्न तत्तद्भूतभौतिक पदार्थों के माध्यम से एक नवीन 'यज्ञकर्म्म' का आविष्कार किया । मानवीया स्थिरप्रज्ञा से प्राकृतिक नित्य देवयज्ञ के नियमों के आधार पर आविष्कृत वही 'भूतयज्ञ' भारतीय मानव का आचारात्मक कर्म्मकाण्ड कहलाया । यही विकारक्षरनिबन्धन वैकारिक जगत् से, तदनुगत वैकारिक पार्थिव भूतों से सम्पन्न होने वाला 'वैधयज्ञ' कहलाया, जिसके द्वारा भारतीय मानव ने वैसा सामर्थ्य प्राप्त कर लिया, जैसाकि सामर्थ्य प्राकृतिक नित्य यज्ञ में है । ऋषिमानव के द्वारा भूतपरीक्षण के द्वारा आविष्कृत, द्विजाति मानव के द्वारा अनुष्ठित यही वैधयज्ञ इसकी सम्पूर्ण लौकिक दैविक आवश्यकताओं का पूरक बनता हुआ इसके लिये 'इष्टकामधुक्' बना । एवं यही वैधयज्ञ कर्म्मकाण्डात्मक 'भूतविज्ञान' कहलाया, जिसे भारतवर्ष की अर्थविद्या कहा जा सकता है, कहा गया है । एवं जिस इत्थंभूत वैध-मानुष-भूतयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता, तथा विज्ञान वेद के ब्राह्मणभागात्मक विधिभाग में विशेष रूप से, तथा आरण्यक-उपनिषद् भाग में सामान्य रूप से विश्लेषण हुआ है । जैसा कुछ प्रकृति में नित्य यज्ञ के द्वारा हो रहा है, प्राणशक्तिरूप प्राकृतिक देवताओं के द्वारा जैसा जो कुछ प्रकृतियज्ञ में हो रहा है, ठीक उसी के अनुरूप विधिविधान इस भूताविष्कारात्मक मानुषयज्ञ में व्यवस्थित हुए, जैसाकि—

"प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या–
देवाननुविधा वै मनुष्याः–
यद्वै देवा यज्ञेऽकुर्वंस्तत् करवाणि"

इत्यादि आर्षवचनों से संसिद्ध है। यही यहाँ की भूतविज्ञानदिशा का संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन है। इसप्रकार भूतविज्ञानात्मक वैधयज्ञरूप पदार्थविज्ञान विकारविज्ञान कहलाया, तदाधारभूत प्रकृतिविकृति-विज्ञानात्मक नित्ययज्ञविज्ञान देवविज्ञान कहलाया, तदाधारभूत अक्षर-विज्ञानात्मक विज्ञान प्रकृतिविज्ञान कहलाया, जो कि परीक्षणदृष्टि से पृथक् रहता हुआ 'ज्ञान' ही कहलाया। सर्वाधारभूत अव्ययब्रह्म ही निरपेक्ष 'ज्ञान' मात्र ही कहलाया। इस दृष्टि से पूर्वोक्त चार विवर्त्तों में से आरम्भ के दो विवर्त्त तो ज्ञानप्रधान प्रमाणित हुए। एवं उत्तर के दो विवर्त्त विज्ञानप्रधान प्रमाणित हुए। अव्ययब्रह्मरूप आत्मज्ञान, एवं अक्षरब्रह्मरूप ब्रह्मविज्ञान, दोनों का भगवान् ने 'ज्ञान' नाम से संग्रह किया। एवं क्षरब्रह्मरूप यज्ञविज्ञान (नित्ययज्ञविज्ञानात्मक देवविज्ञानरूप ज्ञातव्यमात्र–सृष्टिविज्ञान), एवं विकारक्षररूप भूतविज्ञान (मानुष यज्ञात्मक भूतविज्ञानरूप आचरणात्मक कर्म्मविज्ञान), दोनों का 'विज्ञान' शब्द से संग्रह किया। और इसप्रकार ज्ञान-विज्ञान-शब्दों के द्वारा चारों पर्वों का संग्रह करते हुए भगवान् नें सभी कुछ स्पष्ट कर दिया, जिस इत्थंभूत ज्ञानविज्ञानात्मक स्पष्टीकरण का 'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते' वाक्य से समर्थन हो रहा है।

ज्ञानम्— {
१–आत्मज्ञानम् (१)-निरपेक्षज्ञानानुगतम्-मानवात्मप्रतिष्ठाभूमिः
२–ब्रह्मविज्ञानम् (२)-ज्ञानकाण्डानुगतम्–मानवबुद्धेर्विकासभूमिः

विज्ञानम्- {
३-यज्ञविज्ञानम्(१)-उपासनाकाण्डानुगतम्-मानवमनःप्रतिष्ठाभूमिः
४-भूतविज्ञानम्(२)-कर्म्मकाण्डानुगतम्–मानवशरीरप्रतिष्ठाभूमिः

आत्मज्ञान, तथा ब्रह्मविज्ञान, इन दोनों की समष्टि को हम 'ब्रह्मविज्ञान' शब्द से भी व्यवहृत कर सकते हैं। क्योंकि केवल ईक्षण-मर्य्यादा के अनुबन्ध से दोनों हीं समानधर्म्मा बने हुए हैं। एवमेव यज्ञविज्ञान, तथा भूतविज्ञान, दोनों की समष्टि को 'यज्ञविज्ञान' शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। क्योंकि परीक्षणमर्य्यादा से दोनों हीं समानधर्म्मा प्रमाणित हो रहे हैं। और यों अन्ततोगत्त्वा यहाँ आकर इस समानधर्म्मानुबन्ध से चारों विवर्त्तों का पूर्वोक्त ब्रह्मविज्ञानधारा, तथा यज्ञविज्ञानधारा, इन दो धाराओं पर ही पर्य्यवसान हो जाता है। दोनों क्रमशः आत्मनिबन्धन अलौकिक निःश्रेयसभाव-संग्राहक, तथा विश्वनिबन्धन लौकिक अभ्युदयभाव सग्राहक बने रहते हुए मानव के आध्यात्मिक आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-चारों पर्वों के संरक्षण-धारक बनते हुए **'धर्म्म'** नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं, जिससे मानव कभी अपने आप को निरपेक्ष मानने मनवाने की भ्रान्ति नहीं कर सकता। ज्ञान-विज्ञान-सिद्ध, आत्मिक-लौकिक-शान्ति-समृद्धि-प्रवर्त्तक संरक्षक इत्थंभूत शाश्वत-धर्म्म ही 'सनातनधर्म्म' कहलाया है, जो दुर्भाग्यवश गतानुगतिक मत-वादों के आवरण से स्वस्वरूप से अभिभूत बनता हुआ आज राष्ट्र की दृष्टि में निरपेक्ष ही प्रमाणित हो रहा है, जिससे बड़ा दुर्भाग्य राष्ट्र का और कुछ भी नहीं माना जासकता। **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः-स धर्म्मः'** इस कणादसम्मत धर्म्मलक्षण का न किसी मतवाद से सम्ब-न्ध है, न सम्प्रदायवाद से। यह तो सत्यस्यमत्यंरूप विश्वेश्वर की वह सत्यनियति है, जिससे विश्व, तथा विश्वमानव का स्वरूप प्रतिष्ठित है, जैसा कि-**'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'** इत्यादि चिरन्तन सूक्ति से प्रसिद्ध है। 'धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः। यत् स्या-

द्वारणसंयुक्तं–स धर्म्म इति निश्चयः' ही ज्ञानविज्ञानात्मक सनातन-धर्म्म की स्वरूपपरिभाषा है। जब जब भी मानव आत्मबुद्धिधर्म्मों से पराङ्मुख बन कर मनःशरीरानुगत केवल काम–भोगों में ही आसक्त-व्यासक्त होजाता है, तब तब ही प्रकृतिविकम्पन हो पड़ता है, जिसके अतिवृष्टि–अनावृष्टि–स्वल्पवृष्टि–हीनवृष्टि–करकापात–वज्रपात–ऐन्द्र-वारुण-वायव्य–आग्नेय भेद से चतुर्विध भूकम्प–धूम्रकेतुरुदय–जनपदविध्वंसिनी-महामारी–राष्ट्रकलह–अनैतिकता–उच्छृंखलता–आदि आदि परिचय चिन्ह मानें गए हैं। ऐसे भीषण समय ही 'धर्म्मग्लानियुग' कहलाए है, जिसमें धर्म्मनिष्ठ श्रेष्ठमानव प्रकृतिविकम्पन के साथ साथ आत्यन्तिक रूप से उत्पीड़ित हो पड़ते हैं। मानवीय प्रज्ञा के अपराध से उत्पन्न अधर्म्म-भावनाएँ हीं प्राकृतिक क्षोभ का कारण बनतीं हैं, चरम सीमा पर पहुँचा हुआ यही प्रकृतिक्षोभ कालपरिपाकावस्था में आकर अपने से अभिन्न पुरुषात्मक ब्रह्मविकम्पन का कारण बन जाता है। वही विकम्पित ब्रह्मांश धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए विशिष्ट मानवविभूति के रूप में धरातल पर अवतीर्ण हुआ करता है, जोकि आस्तिक प्रजा में भगवदंशावतार नाम से उपस्तुत है। जिस इत्थंभूता अवतारविभूति का बड़े ही रहस्यात्मक विज्ञान से सम्बन्ध है।

केवल मानवीय तात्कालिक कल्पना से अनुप्राणित अन्यान्य मतवाद जहाँ ज्ञानानुगत विज्ञान, तर्क, हेतु, परीक्षणभावों से विद्वेष करते हैं, वहाँ भारतीय धर्म्म इन सबका इसलिए सहर्ष अभिनन्दन कर रहा है कि, इसकी मूलभित्ति ज्ञान-विज्ञान जैसे दृढतम अधिष्ठान पर प्रतिष्ठित है। धर्म्माचार्य्यों नें परीक्षणबुद्धि का स्वागत करते हुए भारतीय धर्म्म के सम्बन्ध में यही उदात्त घोषणा की है कि—

यस्तर्केणानुसंधत्ते, स धर्म्मं वेद, नेतरः ।

—मनुः

प्रश्न धर्म्मचर्चा का नहीं है। प्रश्न है 'विज्ञान' शब्द का, जिसके प्रसङ्ग से पावन धर्म्मचर्चा का भी साङ्केतिक निदर्शन हो पड़ा। धर्म्म-प्रतिष्ठात्मक भारतीय 'विज्ञान' शब्द की सभी प्रमुख धाराओं के दिग्-दर्शन की चेष्टा की गई। जिनके माध्यम से ही अब हमें एक वैसे कटुसत्य का आश्रय लेना पड़ रहा है, जिसके अवलोकन-श्रवणमात्र से भी सम्भवतः भारतवर्ष की आस्तिक प्रजा हम पर रुष्ट-आविष्ट हो सकती है। हमें आज यह निःसंकोचरूप से अवनतशिरस्क बन कर स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि, वर्त्तमान भारतीय प्रजा जिसे 'सनातनधर्म्म' कह रही है, जिस धर्म्म के व्याज से आज वह अनेक प्रकार के धार्म्मिक अकाण्ड-ताण्डवों का सर्जन करती हुई नहीं अघा रही, उसकी मान्यता से सम्बन्ध रखने वाला वर्त्तमान सनातनधर्म्म 'धर्म्म' के वास्तविक स्वरूप से कुछ भी तो सम्पर्क नहीं रख रहा। यह तो अन्यान्य मतवादों की भाँति एक मतवादमात्र है, मजहब है, रिलीजन है, जिन इन शब्दों से 'धर्म्म' का यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। सम्भवतः क्यों, निश्चयेन इसीलिए धर्म्मप्राणभूत इस भारतराष्ट्र के प्राङ्गण में आज 'धर्म्मनिर-पेक्षिता' जैसी अनार्य्यजुष्टा अभिधा आविष्कृत हो पड़ी है, जिसका समस्त उत्तरदायित्त्व यहाँ की उस धार्म्मिक प्रजा पर ही निर्भर है, जो धर्म्मव्याज से तत्त्वतः कलह-संघर्ष-अशान्तिमूलक मतवाद का ही यशोगान कर रही है। धर्म्माधारभूत ज्ञान पक्ष, एवं तदनुप्राणित ब्रह्मविज्ञान आज केवल विद्वानों के वाक्कलहमात्र पर विश्रान्त है। ब्रह्मविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित यज्ञविज्ञान आज कर्म्मासक्त कर्म्मठों

के कल्पित नामयज्ञों पर ही परिसमाप्त है । यज्ञविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित भूतविज्ञान का तो आज नामस्मरण भी नहीं हो रहा। इसप्रकार न आज यहाँ अलौकिक ज्ञान है, न लौकिक विज्ञान है। है, तो केवल यही है कि, अपनी अपनी साम्प्रदायिक-मतवादात्मिका मान्यताओं के सर्वमूर्द्धन्य प्रमाणित करने की अहमहमिका, तत्समर्थन-प्रचार-साफल्य के लिए कल्पित अलौकिक चमत्कारों के प्रदर्शन-छल से भावुक जनता की प्रतारणा। प्रकृतिविरुद्ध आचरण ही आज इस राष्ट्र में महान् चमत्कार बन रहा है। यदि कोई गाली प्रदान करता है, अनर्गल प्रलाप करता है, आडम्बरपूर्ण जीवनपद्धति का प्रदर्शन करता है, तो वही यहाँ की भावुक प्रजा के लिए महान् सिद्ध पुरुष बन बैठता है। कोई ज्योति के दर्शन करा रहा है, कोई नाच-गा कर-अश्रुविमुञ्चन कर भगवान् के सान्निध्य का अभिनय कर रहा है, कोई विडम्बनापूर्ण घोर साधनाओं के नाटकीय अभिनय से गुप्त सिद्धियों का प्रदर्शन कर रहा है, कोई औंधा लटक रहा है, तो कहीं प्राणनिरोध जैसी सामान्य प्रक्रिया के व्याज से अन्तस्तल में बैठ कर 'समाधि' के माध्यम से नवीन आकर्षण उत्पन्न किया जा रहा है। और यों आज इस ज्ञान-विज्ञानात्मक पावन भारतवर्ष के क्रोड़ में अलौकिकता के नाम पर प्रकृतिसिद्ध सम्पूर्ण तत्त्ववाद का उसी के दायादभोक्ता उत्तराधिकारियों के द्वारा मानो उपहास ही किया जा रहा है। इत्थंभूता शोचनीया अवस्था, किंवा निःसीमा दुरवस्था के अनुग्रह से आज यदि धर्म्म के प्रति, तत्स्वरूपव्याख्याता ज्ञान-विज्ञानात्मक प्रजापतिशास्त्र के प्रति, एवं तदनुगामी वेदानिष्ठों के प्रति तात्कालिकरूप से प्रत्यक्षफलसर्जक परीक्षणात्मक प्रतीच्य भौतिक विज्ञान की ओर 'लाभ' दृष्ट्या सहजरूप से ही आकर्षित

हो पड़ने वाली भारतीय प्रजा, एवं प्रजातन्त्रसञ्चालक शासकवर्ग भारतीय प्राच्यशास्त्र–धर्म्म–आचार–आदि के प्रति अनुदिन निरपेक्ष–तटस्थ–ही बनती जा रही है, तो न इसमें शासित प्रजा का ही कोई दोष, एवं न शासक सत्तावर्ग का ही कोई अपराध। अपराध है प्राच्यसंस्कृतिनिष्ठ उन भारतीय विद्वानों का, जो व्याकरण–साहित्य–न्याय–दर्शनादि के पर्य्यालोचन में ही अपने जीवन की आहुति देते हुए ज्ञानविज्ञानकोषात्मक उस वेदशास्त्र के पारिभाषिक अध्ययनाध्यापन से एकान्ततः ही पराङ्मुख हो गए हैं विगत कई एक शताब्दियों से, जिस वेदशास्त्र की पराङ्मुखता राजर्षि मनु के शब्दों में विद्वान् की जीवितमृत्यु का ही कारण बन जाया करती है।

ब्रह्मविज्ञान की परिभाषाओं के सम्बन्ध में, एवं प्रकृतिविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान की परिभाषाओं के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन करने की धृष्टता की गई। अब शेष रह जाता है परीक्षणात्मक–विकृतिरूप वह भूतविज्ञान, जिसके परीक्षणात्मक पारिभाषिक यज्ञिय सूत्र सर्वथा ही यहाँ की प्रज्ञा से पराङ्मुख बन गए हैं, जैसाकि वक्तव्य के आरम्भ में ही अपनी इस असमर्थता का स्पष्टीकरण किया जा चुका है। यह सब कुछ मान लेने पर भी वेदशास्त्र के अक्षरदर्शनमात्र से भी ऐसा कुछ भान हो रहा है कि, अवश्य ही इस प्रजापतिशास्त्र में आत्मज्ञान, ब्रह्मविज्ञान, एवं यज्ञविज्ञान के साथ साथ उस भूतविज्ञान का भी क्रमबद्ध पारिभाषिक स्वरूप विस्पष्ट हुआ है, जिस भूतविज्ञान का ऐहलौकिकी पदार्थविद्या से ही सम्बन्ध है।

भारतीय पदार्थविद्या के सम्बन्ध में, भूतविज्ञान के सम्बन्ध में इस विशेष दृष्टिकोण को लक्ष्य बना लेना आवश्य होगा कि, जहाँ वर्त्तमान

प्रतीच्य भूतविज्ञान रासायनिक सम्मिश्रणात्मक यौगिक विज्ञान के मूलाधार तत्त्वों की संख्या में क्रमशः वृद्धि करता हुआ अनेक तत्त्वानुगामी बन रहा है, वहाँ भारतीय भूतविज्ञान के मूलाधार तत्त्व पाँच ही वर्गों में विभक्त हैं, जो कि क्रमशः आकाश-वायु-तेज-अप्-पृथिवी-इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही वह भारतीय सुप्रसिद्ध 'पञ्चतत्त्ववाद' है, जिसे आगे कर प्रतीच्य विज्ञानवादी भारतीया प्रज्ञा के उपहास में प्रवृत्त होते देखे गए हैं। "पृथिवी-जलादि नाम से प्रसिद्ध महाभूतों की यौगिकता जब स्पष्ट प्रमाणित है, तो उस दशा में इन्हें मौलिक तत्त्व कैसे बतलाया गया ?। इन भूतों को पञ्चतत्त्व बतलाना ही इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि, भारतीय प्रज्ञा आत्म-परमात्म-चर्चा में, अलौकिक भावों के आलोडन-विलोडन-मात्र में भले ही सफल रही हो। किन्तु भूतविज्ञान के स्वरूपज्ञान से तो यह सर्वथा ही वञ्चित है" इस रूप के आक्षेप से सम्बन्ध रखने वाला प्रचण्ड तर्क भारतीय प्रज्ञा को सहसा एकबार तो कुण्ठित ही कर देता है कि, क्या सचमुच यहाँ की ऋषिप्रज्ञा भूतविज्ञान के स्वरूप से अपरिचित थी ?। उक्त आक्रमण के साथ साथ ही दूसरा आक्रमण भारतीयों की प्रज्ञा पर यह होता है कि, "जैसे ये भूतविज्ञान से अपरिचित हैं, एवमेव शरीरविज्ञान से भी इनका कोई सम्पर्क नहीं रहा। तभी तो शरीरसंस्था में सर्वथा अनुपलब्ध, अतएव काल्पनिक वात-पित्त-कफ-जैसे धातुओं के आधार पर इन का आयुर्वेद-शास्त्र भी सर्वथा अवैज्ञानिक ही है" । कहना न होगा कि, कतिपय भारतीय वैज्ञानिकबन्धु एवं डाक्टर महाभाग भी बड़े उल्लास के साथ यहाँ की आयुर्वेदचिकित्साप्रणाली को इसी हेत्वाभास के माध्यम से उपेक्षित प्रमाणित करते रहने का पुण्यार्जन ? करते रहते हैं। धातुत्रयी प्रकृत का विषय नहीं है। इसका विवेचन हमनें 'वेदों में त्रिधातुवाद'

नामक स्वतन्त्र वक्तव्य में किया है । प्रकृत में तो भूतविज्ञानानुबन्धी 'पञ्चतत्त्व' के ही सम्बन्ध में हमें दो शब्द निवेदन कर देने हैं।

पूर्व की विज्ञानधाराओं का दिग्दर्शन कराते हुए हमनें परात्पर से अभिन्न अव्ययब्रह्म को 'आत्मज्ञान' नाम से व्यवहृत किया है । यहीं से उस पञ्चतत्त्ववाद का उपक्रम हो जाता है, जो पञ्च महाभूतों में विश्रान्त होता है, जबकि इस प्रथम पञ्चक का पारिभाषिक पञ्चतत्त्ववाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। **आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–वाक्** , इन पाँच पारिभाषिक कलाओं से ज्ञानैकघन निष्कल भी अव्ययब्रह्म सकल, किंवा पञ्चकल बना हुआ है । आत्मा के अनन्तर अक्षररूप ब्रह्मविज्ञान का स्थान है। इस की **ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम** नाम की पाँच कलाएँ हैं, जिनके आधार पर श्रुति ने कहा है—

यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभि यत् संवहन्ति ।
सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते, तत्र देवाः सर्व एकी भवन्ति ॥

अक्षरब्रह्मात्मक ब्रह्मविज्ञान के अनन्तर प्रकृतिविकृतिरूप क्षरब्रह्मात्मक यज्ञविज्ञान हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, जिसे हमनें 'सृष्टिविज्ञान' कहा है। यज्ञविज्ञानात्मक इस क्षरब्रह्म की भी पाँच ही कलाएँ हैं–जो क्रमशः **'प्राणः–आपः–वाक्–अन्नम्–अन्नादः'** नामों से प्रसिद्ध हैं। यहाँ आकर आत्मब्रह्म का सूक्ष्मवितान उपरत हो जाता है । अतएव परात्पर, पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, एवं पञ्चकल क्षर, इन १६ कलाओं की समष्टि को 'षोडशीप्रजापति' मान लिया जाता है, जो कि प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में प्रतिष्ठित माना गया है । इसी हृदयस्थ षोडशी–षोडशकल–प्रजापति की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ षोडशकल मान लिया गया है, जैसाकि–**'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'** इस अनुगम

से प्रमाणित है। विज्ञानसंस्कारों की प्रतिच्छाया से अद्यावधि भी समन्वित रह जाने का महद्भाग्य प्राप्त करने वाली भारतीय आस्तिक प्रजा सम्भवतः इसी आधार पर अपने आराध्य-उपास्य भगवान् को 'सोलह कलापरिपूर्ण भगवान्' मानती चली आ रही है। आत्मानुगत इसी षोडशकलभाव को परात्परूपा निष्कलभावात्मिका एक कला के, तथा अव्ययाक्षरात्मक्षरनिबन्धना पञ्चदश कलाओं के वर्गीकरण के माध्यम से श्रुति को यों कहना पड़ा है कि—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठां देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति॥

षोडशीप्रजापति की क्षरब्रह्मानुगता विशुद्धा प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद-रूपा यज्ञविज्ञानात्मिका पाँच कलाएँ हीं पञ्चकल अव्यय-पञ्चकल अक्षर को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनातीं हुईं सृष्टि की मौलिक प्रतिष्ठा बनतीं हैं। अतएव भारतीय विज्ञानपरिभाषा में क्षरब्रह्मात्मिका सुसूक्ष्मा विशुद्धा, अर्थात् अपञ्चीकृता ये पाँचों कलाएँ हीं 'पञ्चतत्त्व' नाम से प्रसिद्ध हुईं हैं, जिनका साङ्केतिक पारिभाषिक वैज्ञानिक नाम है- 'विश्वसृट्'। विश्वरूप भूतयज्ञ के सर्जन की मूलप्रवर्त्तिका ये ही क्षर-कलाएँ हैं, अतएव इन्हें 'विश्वसृजः' कहना अन्वर्थ बनता है। जैसाकि- 'विश्वसृज इदं विश्वमसृजन्त। यद्विश्वमसृजन्त, तस्माद्विश्वसृजः' (तै० ब्रा० ३।१२।६।८) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। दर्शनभाषा में यही 'गुणभुत' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे सांख्य ने 'पञ्चतन्मात्रा' नाम से व्यवहृत किया है। कदापि इन मौलिक तत्त्वों का विशकलन सम्भव नहीं है, और यही इनकी मौलिकता है।

आगे चल कर इन पाँचों गुणभूतात्मक मौलिक तत्त्वों का पञ्चीकरण होता है, जिसका तात्पर्य्य है प्रत्येक में शेष चारों की आहुति । फलतः अर्द्ध भाग में स्वयं एक तत्त्व, शेष अर्द्ध भाग में शेष चारों । इसीलिए **'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः'** इस वैज्ञानिक सिद्धान्तानुसार पञ्चीकृत प्रत्येक इन यौगिक भूतों के नाम वे ही रहते हैं, जो प्राणादि नाम मौलिक क्षर के मानें गए हैं। इस द्वितीय प्रक्रम में, जो कि मूलक्षर की दृष्टि से प्रथम ही प्रक्रम माना जायगा—पाँच पञ्चजनों की सम्भूय पञ्चविंशति (२५) कलाएँ हो जातीं हैं । दर्शनभाषा में इन्हीं को 'अणुभूत' माना गया है, जिनका यौगिकभाव के कारण विशकलन सम्भव है। **'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः'** इत्यादि श्रुति अणुभूतात्मक इसी प्रक्रम का स्पष्टीकरण कर रही है।

पुनः पाँचों पञ्चजनों का पञ्चीकरण होता है । इस पञ्चीकरण से ये पाँचों पुरञ्जन जिस यौगिक अवस्था में परिणत हो जाते हैं, वही 'पुरञ्जन' नाम से व्यवहृत हुई है। इस पुरञ्जनावस्था में पञ्चजनों के स्वरूप में अपूर्वता आजाती है । अतएव इस प्रक्रम में इन पाँचों पुरञ्जनों के नाम परिवर्त्तित हो जाते हैं । पुरञ्जनात्मक प्राण **वेद** नाम से, पुरञ्जनात्मिका आपः **लोक** नाम से, तदात्मिका वाक् **देव** नाम से, तदात्मक अन्नाद **भूत** नाम से, एवं तदात्मक अन्न **पशु** नाम से व्यवहृत हो जाते हैं। 'पुर' रूप सीमाभाव की अभिव्यक्ति के प्रवर्त्तक होने से ही इन पञ्च-पञ्चीकृत यौगिक भावों को 'पुरञ्जन' कहा गया है। दर्शनभाषा में इन्हीं को **'रेणुभूत'** माना गया है।

पुनः रेणुभूतात्मक वेद-लोक-देव-भूत-पशु-नामक प्राणात्मक, अर्थात् सुसूक्ष्म पुरञ्जनों का पञ्चीकरण होता हैं । इस पञ्चीकरण से

जो यौगिकभाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें ही 'पुर' कहा जाता है। यहाँ आकर सीमात्मक अण्डवृत्त सम्पन्न होता है। यही सुसूक्ष्म अण्डवृत्त 'पुर'नामक यौगिक तत्त्व माना गया है, जिन इन पाँच पुरभावों के पारिभाषिक नाम वेदपुरञ्जन से निष्पन्न प्राणात्मक प्रथम पुर **परमाकाश** नाम से, लोकपुरञ्जन से निष्पन्न अबात्मक द्वितीय पुर **महासमुद्र** नाम से, देवपुरञ्जन से निष्पन्न वागात्मक तृतीय पुर **सम्वत्सर** नाम से, भूतपुरञ्जन से निष्पन्न अन्नादात्मक चतुर्थ पुर **'आन्द'** नाम से, एवं पशुपुरञ्जन से निष्पन्न अन्नात्मक पञ्चम पुर **'नक्षत्र'** नाम से प्रसिद्ध है। परमाकाश–महासमुद्र-नक्षत्र-इन पाँच पुरभावों के बहुत्त्वनिबन्धन यौगिकभावों सम्वत्सर-आन्द-की अपेक्षा से ही 'बहुत्त्वमेव भूतम्' निर्वचन से इन्हें 'भूतम्' इस पारिभाषिक नाम से व्यवहृत किया गया है, जो कि विश्वस्वरूप की स्थूलभूमिका मान ली गई है।

भूतात्मक परमाकाशादि पाँचों पुरभावों का पुनः पञ्चीकरण होता है। इस अन्तिम पञ्चीकरण से इन पुरभावों के द्वारा जो आत्यन्तिक अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, वही सर्वान्त का 'महाभूत' नामक पञ्चक है, जिसके दर्शनभाषा में क्रमशः **आकाश–वायु–तेज–जल–मृत्** ये नाम हैं। एवं पारिभाषिकी विज्ञानभाषा में जो पाँचों क्रमशः **स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा–भूपिण्ड**–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अवश्य ही ये पाँचों आत्यन्तिकरूप से यौगिक हैं। अनेक मौलिकभावों से गुण–अणु–रेणु-भूत–भावों से सम्पन्न होनें वाले, अतएव निरतिशयरूप से बहुत्त्वभाव-निबन्धन इन यौगिक प्रत्यक्ष दृष्ट–श्रुत–वर्णित भूतों को ऋषिप्रज्ञा ने 'महाभूत' नाम से व्यवहृत किया है। बहुत्त्व की आत्यन्तिकता ही इन स्थूल भूतों की महत्ता है।

इस दृष्टि से स्वयं 'महाभूत' शब्द ही पृथिव्यादि पञ्च महाभूतों की योगात्मिका यज्ञरूपता अभिव्यक्त कर रहा है। जिन्हें वर्त्तमान विज्ञान मौलिक तत्त्व कहता है, वे तो सम्भवतः हमारे 'भूत' नामक चतुर्थ उस प्रक्रम में ही अन्तर्भूत हैं, जो महाभूतों के सर्जक बना करते हैं। एवं जो ऋषिप्रज्ञा की दृष्टि से तो यौगिक ही तत्त्व हैं। जब इन पुररूप भूतलक्षण भावों के मूलभूत पुरञ्जनात्मक रेणुभूत, तथा इनके भी मूलभूत पञ्चजनात्मक अणुभूत भी जब यौगिक मर्य्यादा से आक्रान्त हैं, तो अणुभूत की तीसरी पीढी में प्रतिष्ठित महाभूतों के मूलाधार भूतों को कैसे 'तत्त्व' माना जा सकता है ?। अवश्य ही अविशकलनधर्म्मा तत्त्व तो अणुभूतों के भी मूलाधार पञ्चतन्मात्रारूप उन गुणभूतों को ही कहा जायगा, जो अपञ्चीकृत 'क्षरब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध है। तदित्थं गुण-अणु-रेणु-भूत-भेद से चतुर्द्धा विभक्त विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जज-पुर-नामक तत्त्वों के अनन्तर चौथे 'भूत' नामक यौगिकतत्त्वों से समुत्पन्न पृथिव्यादि महाभूतों की स्पष्टतमा बहु-यौगिकता का यों क्रमसिद्ध जिस वेदशास्त्र में विश्लेषण हुआ हो, उस वैदिक विज्ञान के पञ्चतत्त्वात्मक मौलिक तत्त्वों के सम्बन्ध में तथाकथित आलोचना के द्वारा भारतीय ऋषिप्रज्ञा को केवल आत्मचिन्तनशीला मान बैठने वाले, इसे भूतविज्ञान-दृष्ट्या भ्रान्त मान बैठने वाले आज के भूतविज्ञानवादियों के जैसे हेत्वाभास इस भारतीय प्रज्ञा को आज सुनने पड़ रहे हैं, उसका एकमात्र कारण वैदिकविज्ञानपरम्पराओं की विलुप्ति ही माना जायगा। अक्षर नामक प्रकृतितत्त्व के पञ्चधा विभक्त पञ्चीकरण के अनुग्रह से प्रकृतिरूप महाविश्व की सीमा में अन्तर्भुक्त अव्ययादि महाभूतान्त जो विवर्त्त समष्ट्या-व्यष्ट्या उभयथा पञ्चात्मक बने हुए हैं, इत्थंभूता पञ्चपर्वा

प्रकृतिदेवी की ब्रह्म-यज्ञ विज्ञानधाराओं का वेदशास्त्र की परिभाषाओं के माध्यम से जब तक भारतीय प्रज्ञा स्वाध्याय नहीं कर लेती, दूसरे शब्दों में जब तक पञ्चपर्वा प्रकृति का यह अध्ययन नहीं कर लेती, तब तक इसे इसीप्रकार अवमानित होता रहना पड़ेगा। अतएव इस दिशा में आर्षमानव का उद्बोधन कराते हुए ऋषिप्रज्ञा ने हमारे सम्मुख यह उद्बोधन सूत्र रक्खा कि—

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां-
पञ्चप्राणोर्म्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां-
पञ्चाषड्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् १।५।

गुणभूतगर्भित अणुभूत, तद्गर्भित रेणुभूत, तद्गर्भीभूत भूत, एवं तद्गर्भीभूत महाभूतात्मक जिस मौलिक पञ्चतत्त्ववाद पर भारतीय पदार्थ-विद्यात्मक विकृतिविज्ञानात्मक भौतिक विज्ञान का अवसान हो रहा है, उसके सर्वादिभूत मूलभाव भारतीय विज्ञानभाषा में रस-बल नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। अपरिवर्त्तनीय मौलिक तत्त्व ही रस कहलाया है, जो कि केवल सत्तासिद्ध पदार्थ है। एवं परिवर्त्तनीय मौलिक तत्त्व ही बल माना गया है, जो कि केवल भातिसिद्ध पदार्थ है। सत्तासिद्ध रस नामक मौलिक तत्त्व दिक्-देश-काल से अपरिच्छिन्न रहता हुआ अनन्त है, तो भातिसिद्ध बल नामक मौलिक तत्त्व दिग्-देश-काल से परिच्छिन्न रहता हुआ सादि सान्त है। सत्तात्मक रस संख्या से एक है, दिग्देश-कालानुबन्ध से अनन्त है, जब कि भात्यात्मक बल दिग्देशकाल से सादिसान्त बनता हुआ भी संख्या से अनन्त-असंख्य है। सत्तात्मक

रस अपनी अनन्तता से जहाँ 'सत्' है, अमृत है, एक है, अविनाशी है, वहाँ भात्यात्मक बल अपनी सादिसान्तता से 'असत्' है, मृत्यु है, नाना है, विनाशी है। अहोरात्रवत परस्पर अत्यन्त विरुद्ध इन दोनों सत्ता-भाति-रूप रस बल-तत्त्वों की समष्टि ही 'अहम्' नामक वह मौलिक तत्त्व है, जिसे-'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'रूप से श्रुति ने सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्य अद्वैतब्रह्म माना है। और यही भारतीय तत्त्ववाद का सर्वाधारभूत वह एकतत्त्ववाद है, जिसके आधार पर ही पूर्वोपवर्णित पञ्चपर्वात्मक पञ्चतत्त्ववाद का उपबृंहणात्मक विस्तार हुआ है। **'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !'** इत्यादि गीतावचन इसी एकतत्त्ववाद की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है।

सत्तासिद्ध रसतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित भातिसिद्ध परिवर्त्तनशील क्षणभावापन्न, अतएव प्रतिक्षण-विलक्षण जो असंख्य बल तत्त्व हैं, उनके आधारभूत बलकोश सोलह मानें गए हैं, जो विज्ञानभाषा में क्रमशः-**"माया, जाया, धारा, आपः, हृदयं, भूतिः, यज्ञः, स्त्रं, सत्यं, यक्षं, अभ्वं, मोहः, वयः, वयोनाधः, वयुनम्, विद्या,"** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। मायादि वयुनान्त १५ बलकोश समष्टिरूप से जहाँ **'अविद्याबलकोश'** कहलाई है, वहाँ एकाकी विद्याबल **'विद्याबलकोश'** कहलाया है। विद्याबलकोश में रसकी प्रधानता है, बल की गौणता है। अतएव यह बलकोश (विद्याबल) संसारग्रन्थिविमोचक माना गया है। पञ्चदश बलकोशात्मक अविद्याबलकोश में बल की प्रधानता है, रस की गौणता है। अतएव यह अविद्याबलकोश संसार-ग्रन्थिबन्धनप्रवर्त्तक माना गया है। अविद्या, विद्या, दोनों का समष्ट्या-

त्मक स्वरूप एक ही केन्द्रबिन्दु पर प्रतिष्ठित है, जैसा कि ऋषि ने कहा है—

> विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
>
> —ईशोपनिषत्

सत्तासिद्ध अमृतरसलक्षणा मूलप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित भातिसिद्ध बलों का पारस्परिक सम्बन्ध-तारतम्य ही पञ्चपर्वा प्रकृति से अनुप्राणित गुणभूतात्मक क्षरब्रह्मलक्षण **विश्वसृट्**, अणुभूतात्मक पञ्चीकृत क्षर-लक्षण **पञ्चजन**, रेणुभूतात्मक पञ्च-पञ्चीकृत क्षरलक्षण **पुरञ्जन**, एवं भूत-भूतात्मक पञ्च-पञ्च-पञ्चीकृत क्षरलक्षण **पुर**, इन चार प्रक्रमों में परिणत होता हुआ अन्ततोगत्वा सर्वथा निरूढा यौगिकावस्था में आकर सर्वात्मक पञ्च महाभूतों पर विश्रान्त होता है । इन सभी प्रक्रमों में, प्रक्रमसमष्टिरूप अभिक्रमों में, एवं अभिक्रमसमष्टिरूप बल-व्यूहों में रसाधार पर प्रतिष्ठित बलों के सम्बन्ध-तारतम्य का ही साम्राज्य है । अतएव भारतीय विज्ञान की मूलाधारभित्ति यह 'बल' तत्त्व ही मान लिया गया है । बल, किंवा बलों का तारतम्य ही सृष्टिविज्ञान का मौलिक रहस्य है । अतएव कहा जा सकता है कि, पदार्थविज्ञानात्मक भूतविज्ञान के लिए बलविज्ञान ही ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है । **'बलं वाव विज्ञानाद्भूयः । बलमित्युपास्व'** इत्यादि श्रुतिसिद्ध बलतत्त्व ही भारतीय पदार्थविद्या की उपक्रमबिन्दु बना हुआ है । भूतविज्ञान के मूलाधारभूत इस बल-तत्त्व को लक्ष्य बनाए बिना न तो बलातीत रसलक्षण आत्मतत्त्व का ही साक्षात्कार सम्भव, एवं न बलात्मक सृष्टितत्त्व का ही स्वरूपविश्लेषण सम्भव । इसी आधार पर **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः, बलं**

सत्यादोजीयः' इत्यादि श्रौत सिद्धान्त व्यवस्थित हुए हैं। बलात्मिका विज्ञानोपासना की पराङ्मुखता मानव को आत्ममूला रसनिबन्धना शान्ति, तथा विश्वमूला बलनिबन्धना लोकविभूति, दोनों से वञ्चित कर दिया करती है। अतएव इन दोनों ही पुरुषार्थों की संसिद्धि के लिए बलात्मक विज्ञानकाण्ड को माध्यम बना लेना अनिवार्य्य माना है ऋषिप्रज्ञा ने।

संसिद्ध है कि भारतीय पदार्थविद्या का मूलाधार एकमात्र बलतत्त्व ही है, जिसका पञ्चपर्वा प्रकृति के पञ्चीकरण से 'गुण-अणु-रेणु-भूत-महाभूत' रूप से 'विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-पुर-विश्व' भावों में विस्तार हुआ है। विज्ञानविस्तार के आधारभूत इसी बलतत्त्व के तीन प्रमुख विवर्त्तों के द्वारा भारतीय 'भूतविज्ञान' व्यवस्थित हुआ है, जो कि तीनों विवर्त्त क्रमशः स्थिरधर्म्मप्रयोजकबल, अस्थिरधर्म्मप्रयोजक-बल, एवं सव्यपेक्षधर्म्मप्रयोजकबल, इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

तीनों प्रत्येक क्रमशः–दशविध–अष्टविध–त्रिविध–भेद से दस–आठ–और तीन, इसप्रकार २१ अवान्तर विवर्त्तों में परिणत हो रहे हैं, जिनके प्रकृत में नाममात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं। स्थिरधर्म्मप्रयोजक प्रथम बलविवर्त्त के अवान्तर दस बलविवर्त्त क्रमशः-१ ''भारः, २-आयतनम्, ३-स्थानविरोधः, ४-विभाज्यता, ५-सान्तरत्त्वम्, ६-संघठनम्, ७-स्थितिस्थापकत्त्वम्, ८-चापनम्, ९-जड़त्त्वम्, १०-अविनश्वरत्त्वम्'' इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

अस्थिरधर्म्मप्रयोजक द्वितीय बलविवर्त्त के अवान्तर बलविवर्त्त क्रमशः १-''शैत्यम्, २-आकुञ्चनम्, ३-कठिनत्त्वम्, ४-वर्णरूपत्त्वम्, ५-

क्षणभङ्गुरत्वम्, ६-घनत्वम्, ७-द्रवत्वम्, ८-विरलत्वम्" इन नामों से प्रसिद्ध हैं। एवं सव्यपेक्षधर्म्मप्रयोजक तृतीय बलविवर्त्त के अवान्तर बलविवर्त्त क्रमशः "१-नोदनाबलम्, २-केन्द्रापगबलम्, ३-आकर्षणबलम्", इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन एकविंशतिधा विभक्त अवान्तर बलविवर्त्तों के भी आगे जाकर अनेक प्रत्यवान्तर बलविवर्त्त हो जाते हैं, जिनका विस्तारभिया अत्र उल्लेख भी सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए सव्यपेक्षधर्म्मप्रयोजक बलविवर्त्त के प्रथम अवान्तर नोदनाबल को ही लक्ष्य बनाइए, जिसके क्रमशः पूर्वदेशत्याग-उत्तरदेशसंयोगात्मक १ गतिबल, बलयोनि-बलमात्रानुबन्धी २-बलोप-निषद्बल, सम-विषम-वेग-भावानुबन्धी ३-समदिग्बल, सरल-वक्रादि-भावानुबन्धी ४-नानादिग्बल, एवं प्रतिदिग्बलद्वयघातात्मिकास्थिति-नानाबलघात-परिवृत्ति-आदि निबन्धन ५-प्रतिदिग्बल, ये प्रत्यवान्तर बलविवर्त्त हो जाते हैं।

एवमेव उदाहरणरूप से सव्यपेक्षधर्म्मप्रयोजक बलविवर्त्त के तीसरे आकर्षण बलविवर्त्तक के अवान्तर एकादश(११)प्रत्यवान्तरविवर्त्त हो जाते हैं, जो भारतीय विज्ञानपरिभाषा में क्रमशः—१-वस्त्वाकर्षण, २-व्यव-कलिताकर्षण, ३-माध्याकर्षण, ४-रासायनिकाकर्षण, ५-आणविक-योगाकर्षण, ६-सन्निकर्षबलाकर्षण, ७-अनुलग्नताबलाकर्षण, ८-संसक्तबलाकर्षण, ९-कैशिकबलाकर्षण, १०-शोषणबलाकर्षण, ११-चोषणबलाकर्षण" इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

रूढ-योगरूढ-एवं यौगिक-भेद से त्रिधा विभक्त परमाणु-त्रसरेणु-स्कन्ध-भावानुगत त्रिविध पदार्थों की अवान्तर ध्रुव-धर्त्र-धरुण नाम की तीन अव-स्थाओं का भी 'ध्रुवोऽसि, धर्त्रमसि, धरुणमसि' (यजुःसं०) इत्यादि

श्रुतिके द्वारा स्वरूपविश्लेषण हुआ है,जोकि क्रमशः संघातता-कठिनता-विनेयता-उद्वर्त्तनोयता-आदि भावानुबन्धिनी घनता से अनुप्राणित निविडावयव, द्रवभावानुबन्धी तरलावयव, एवं विरलभावानुबन्धी बाष्पावयव, इन लोकनामों से प्रसिद्ध हैं। घनावयव, निविड़ावयव पदार्थ ही 'ध्रुव' हैं, तरलावयव-द्रवावयव पदार्थ ही धरुण हैं। एवं विरलावयव बाष्पावयव पदार्थ ही ध्रुव हैं। इन्हीं तीन अवस्थाधर्म्मों से एक ही आङ्गिरसबल क्रमशः अग्निः-वायुः-आदित्यः, इन तीन अवस्थाओं में परिणत हो रहा है। एक ही भार्गवबल क्रमशः आपः-वायुः-सोमः इन तीन अवस्थाओं में परिणित हो रहा है। बलों का सम्बन्धतारतम्य ही इस असंख्य-अवस्था भेद का कारण बनता है, जिन असंख्य बल-सम्बन्धों का प्रधानरूप से अष्टादश (१८) बलसम्बन्धों में हीं अन्तर्भाव मान लिया है वैज्ञानिक महर्षियों नें। ये १८ बलसम्बन्ध क्रमशः १-प्रवर्ग्यकसम्बन्ध, २--नैमित्तिकसम्बन्ध, ३--सांघातिकसम्बन्ध, ४-सांस्कारिकसम्बन्ध, ५-उद्भवसम्बन्ध, ६-प्रभवसम्बन्ध, ७-औपपादिकसम्बन्ध, ८-प्राकृतिकसम्बन्ध, ९-पारिणामिकसम्बन्ध, १०-रसानुवृत्तिकसम्बन्ध, ११-सांयौतिकसमवायीसम्बन्ध, १२-औपादानिकसम्बन्ध, १३-सांक्रामिकसम्बन्ध, १४-आक्रामिक--सम्बन्ध, १५-प्रातिभासिकविवर्त्तसम्बन्ध, १६-भाविकसम्बन्व, १७-वैकल्पिकसम्बन्ध, १८--ऐच्छिकसम्बन्ध, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के अवान्तर विवर्त्त--अन्तर्य्याम, बहिर्य्याम, उद्याम, यात--याम, उदूढ, संशर, ग्रन्थि, अमितवृत्तिता, दहरोत्तर, वसुधान--कोश, योग, याग, ओतप्रोत, अन्तरान्तरीभाव-आदि आदि अनेक भावों में परिणत हो रहे हैं। अलमतिविस्तरेण ।

स्पष्ट है कि भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने आत्मा-ब्रह्म-देव-भूत-इन चार तत्त्वों के माध्यम से क्रमशः **आत्मज्ञान, ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान, भूतविज्ञान,** इन चार विवर्त्तों का विस्पष्टरूप से समन्वय किया है, जिस समन्वयग्रन्थ का ही नाम मन्त्रब्राह्मणात्मक 'वेदशास्त्र' है। अतएव-'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' (मनुः) के अनुसार वेदशास्त्र ज्ञान-विज्ञानात्मिका सम्पूर्ण विद्याओं का विश्लेषक शास्त्र मान लिया गया है। तत्त्वदृष्टि से इन चारों विवर्त्तों के समन्वय की चेष्टा की गई। अब दो शब्दों में लोक-दृष्टि से भी 'विज्ञान' का समन्वय कर लीजिए।

आज जिसे भूतविज्ञान कहा जाता है, जोकि पदार्थविज्ञानात्मक मेटिरीयल सांयस नाम से लोक में विश्रुत है, वह भारतीय विज्ञान की परिभाषा में विकारविज्ञान, किंवा वैकारिक विज्ञान है, जिसे-'प्रकृतिविज्ञान' नाम से व्यवहृत करना सर्वथा भ्रान्ति है। प्रकृतिविज्ञान तो वह 'यज्ञविज्ञान' है, जो इस प्रत्यक्ष दृष्ट-श्रुत-उपवर्णित भौतिक वैकारिक-विज्ञान का आधार माना गया है। जबतक भूतविज्ञान प्रकृतिविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान के अनुरूप बना रहता है, तबतक तो यह विश्वशान्ति का कारण प्रमाणित है। यदि यह भूतविज्ञान यज्ञविज्ञानात्मक प्रकृति-विज्ञान की विपरीत दिशा का अनुगामी बन जाता है, तो यही भूतविज्ञान विश्वविनाश का कारण प्रमाणित हो जाता है। इस दृष्टि को लक्ष्य बना कर ही मानव को भूतविज्ञान में प्रवृत्त होना चाहिए। भूतविज्ञान स्वयं अपने रूप से विश्व के लिए वरदान है, यदि वह प्रकृतिविज्ञान के अनुरूप है, तो। नहीं तो इससे बड़ा भयानक अभिशाप भी कोई दूसरा नहीं है। ऋषिदृष्टि ने इसी तथ्य के आधार पर भूतविज्ञान का आधार यज्ञविज्ञान को बनाया, यज्ञविज्ञान को ब्रह्मविज्ञान से नियन्त्रित

किया, एवं इन ब्रह्म-यज्ञ-भूत-तीनों विज्ञानों को आत्मसमर्पणबुद्ध्या सर्वाधार आत्मदेवता में प्रतिष्ठित करते हुए वैविध्य-नानारूप-मर्त्यभावों को अमृतभाव में परिणत कर दिया, जब कि आत्मा, ब्रह्म, यज्ञ, प्रतिष्ठाओं से पराङ्मुख आज का भूतविज्ञान अमृतप्रतिष्ठा से एकान्ततः वञ्चित रहता हुआ केवल एषणावर्द्धक ही प्रमाणित होता हुआ रक्षण के स्थान में संहार का ही सन्देशवाहक बनता जारहा है।

पुनः यह स्मरण कराया जारहा है कि, उक्त चारों विवर्त्त समन्वित रूप से मानव की अध्यात्मसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले 'आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर'- इन चार संस्थाओं के उपकारक बने हुए हैं। आत्मज्ञान मानवीय आत्मा का, ब्रह्मविज्ञान मानव के कारणशरीरात्मक बुद्धिपर्व का, यज्ञविज्ञान मानव के सूक्ष्मशरीरात्मक मनःपर्व का, एवं भूतविज्ञान मानव के स्थूलशरीरात्मक शरीरपर्व का उपकारक बना हुआ है। उपकारक चारों साधन क्रमशः प्रपत्तिलक्षणा **संवित्**, विजाननलक्षण **ज्ञान**, **उपासन**, **कर्म्म**, इन नामों से व्यवहृत किए जासकते हैं। कर्म्मद्वारा भूतविज्ञान मानव के शरीर को पुष्ट रखता है, उपासना के द्वारा यज्ञविज्ञान मानव के मन को तुष्ट रखता है, ज्ञान के द्वारा ब्रह्मविज्ञान मानव की बुद्धि को तृप्त, रखता है, एवं संवित् के द्वारा आत्मज्ञान मानव के आत्मा को सुशान्त रखता है। मानव न केवल शरीर ही है, न मन ही है, न बुद्धि ही है। एवं न केवल आत्मा ही है। अपितु चारों के समन्वित रूप का नाम ही 'मानव' है। इत्थंभूत मानव तभी सर्वात्मना अभ्युदय-निःश्रेयस का पात्र बन सकता है, जबकि यह आत्मना शान्त रहे, बुद्ध्या तृप्त रहे, मनसा तुष्ट रहे, एवं शरीरेण पुष्ट रहे। चारों में से कभी एक भी पर्व अव्यवस्थित है, तो मानव कदापि सुखी-शान्त नहीं रह सकता। इसी

आधार पर तो भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने मानव को चार पुरुषार्थों से समन्वित माना है।

बात नवीन नहीं है, अपितु सब की जानी बूझी हुई। मोक्ष–धर्म्म-काम- अर्थ–चारों पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं। 'अर्थ' का शरीर से, काम का मन से, धर्म्म का बुद्धि से, एवं मोक्ष का आत्मा से क्रमिक सम्बन्ध है। जहाँ मानव इन चार पुरुषार्थों से समन्वित है, वहाँ मानवेतर समस्त प्राणी केवल मन; और शरीर से सम्बन्ध रखने वाले काम, एवं अर्थ, इन दो प्रकृत्यर्थों पर ही विश्रान्त है। शरीर–मनोऽनुबन्धी आहार–निद्रा–भय–आदि ही प्राकृत पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि की जीवनसत्ता के एक-मात्र इतिवृत्त हैं। यदि मानव अपने भूतविज्ञान के माध्यम से, किंवा शिक्षा–व्यवसाय–शिल्प–कला–शासन–राजनीति–समाजनीति -साम्यवाद–प्रजासमाजवाद–आदि आदि के माध्यम से अपने मनःशरीरमात्रानुबन्धी कामभोगमात्र की व्यवस्था कर लेना हीं, दूसरे शब्दों में योगक्षेमनिबन्धना आहार–विहारादि की (खान–पान की) चिन्ता निवृत्त कर लेना हीं अपना परम पुरुषार्थ मानता है; तो इस दृष्टिबिन्दु से तो मानव, और पशु में कोई भी विभेद शेष नहीं रह जाता--'सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्'।

यदि मानव के जीवन का उद्देश्य केवल योगक्षेम ही है, तो मानव और पशु में वह ऐसी कौनसी मध्यरेखा है, जिसके आधार मानव अपने आपको पशु की अपेक्षा श्रेष्ठ मान रहा है?। क्या आज मानव इस वर्ग-भेद का भी उच्छेद कर देना चाहता है?। पक्ष तो ठीक है। किन्तु किस दृष्टि से ?, समदर्शन की दृष्टि से, जिसके आधार पर 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'--'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं, जिस इत्थंभूत आत्मसमदर्शनमूलक साम्यवाद का

-'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' इस रूप से भारतीय आर्षप्रज्ञा ने भी समर्थन किया है। 'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि--न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' (महाभारत) इस उदात्तघोषणा का क्या खानपान की समस्या के समाधानमात्र पर ही विश्राम है ?। आलप्यालम् ! कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः।

स्पष्टतम है कि, आत्मानुगत मोक्ष, तथा बुद्ध्यनुगत धर्म्म, ये दो ही वे विशेषताएँ हैं, जिन्होंनें मानव को पशु की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रमाणित कर रक्खा है। इसी आधार पर-'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (उपनिषत्) इस रूप से ऋषि ने मनःशरीरधर्म्मा भी मानव का ध्यान आत्मा, और बुद्धि के प्रति आकर्षित किया है। संसिद्ध है कि, शरीरसंरक्षक वे ही अर्थ मानव के स्वरूपरक्षक मानें जायँगे, जो इसके मनस्तन्त्रानुगत कामभाव को विचलित नहीं कर देंगे। मनःसंरक्षक वे ही कामभोग मानव के संरक्षक कहे जायँगे, जो इसके बुद्धितन्त्रानुगत धर्म्मभाव को विचलित नहीं करेंगे। एवमेव बुद्धि-संरक्षक वे ही धर्म्मभाव इसके स्वरूपसंरक्षक उद्घोषित होंगे, जोकि इसके मोक्षभाव को विचलित नहीं करेंगे। इसी आधार पर यह कह दिया जायगा कि, वह भूतविज्ञान हेय है, जो शरीरमात्र को तो पुष्ट करता है। किन्तु जिससे मानवीय मन-बुद्धि-आत्मा तीनों क्रमशः क्लान्त-श्रान्त-अशान्त बने रहते हैं। एवमेव वह यज्ञविज्ञान भी, तदनुप्राणिता उपासना भी उपेक्षणीया ही कही जायगी, जिससे तात्कालिकरूप से मानसिक अनुरञ्जन तो सम्भव बनेगा, किन्तु जो न शारीरिक अर्थ की व्यवस्था कर सकती, न बौद्धिक धर्म्माचरण को प्रश्रय देती, एवं न जो आत्मिक अनुध्यान का ही समर्थन करती। तथैव वैसा तत्त्वदर्शनात्मक ब्रह्मविज्ञान भी अनुपयुक्त

ही माना जायगा, जो अपने तत्त्वविजृम्भणों से बुद्धि को सुतीक्ष्ण बनाने की क्षमता रखता हुआ भी न तो शारीरिक व्यवस्था सुरक्षित रक्खेगा, न मनस्तुष्टि का संग्राहक बनेगा, एवं न आत्मशान्ति का उपोद्-बलक बनेगा । तथैव वैसा आत्मज्ञान भी यहाँ कदापि सम्मानित नहीं होगा, जो अपने क्षीणोदर्कभाव से कहने-सुनने मात्र के लिये, और सम्भवतः वस्तुगत्या भी आत्मस्थिति का कारण बनता हुआ भी न तो शरीरानुबन्धी कर्म्म का ही समर्थन करेगा, न मनोऽनुबन्धी तुष्टिभावों का ही समादर करेगा, एवं न बुद्ध्यनुबन्धी धर्म्माचरण को ही लक्ष्य बनाएगा। ऐसा ही तो कुछ घटित विघटित हो रहा है आज हमारे राष्ट्र में। यदि कोई शरीरचिन्तातुर है, तो उसे मन-बुद्धि-आत्मा का ध्यान नहीं है। यदि कोई उपासना के द्वारा मनःसन्तोष में प्रवृत्त है, तो उसे शरीर-बुद्धि-आत्मा का कोई ध्यान नहीं है। यदि कोई तत्त्वचिन्तनरूप बुद्धिवाद से ग्रस्त है, तो न उसे शरीरचिन्ता है, न मनोविनोद है, न आत्मानुगता श्रद्धा-आस्था है। और यदि कोई वीतराग आत्मचिन्तन पथ का पथिक है, तो उसके बुद्धि-मनः-शरीर तीनों पर्वों के उत्तरदायित्त्व के भार से राष्ट्र उत्पीड़ित हो रहा है। इसप्रकार भगवान् व्यास के 'तत्तु समन्वयात्' सिद्धान्त की उपेक्षा कर देने वाले आज के भारतीय मानव का न शरीर स्वस्थ है, न मन तुष्ट है, न बुद्धि तृप्त है, न आत्मा शान्त है। घोषणाओं में सब कुछ प्राप्त कर लिया है आजके राष्ट्रीय मानव ने। किन्तु आत्मा-ब्रह्म-यज्ञ-भूत-विज्ञानों की वेदशास्त्रसिद्धा मौलिक परिभाषाओं से अपरिचित रहता हुआ वस्तुगत्या है ये चारों ही क्षेत्रों में केवल क्षणिकं-क्षणिकं, अतएव शून्यं-शून्यं, अतएव दुःखं-दुःखं-रूपा उस नास्तिसारा अनार्षभावना का ही लक्ष्य, जिन इत्थंभूत अनार्ष लक्ष्यों के साथ यहाँ

की आर्षप्रज्ञा की नित्यं-नित्य, अतएव पूर्णं-पूर्णं, अतएव आनन्दः-आनन्दः, इस भावनात्रयी के माध्यम से सदा से प्रतिद्वन्द्विता ही चली आ रही है।

'प्रकृतिवद्‌विकृतिः कर्त्तव्या,' 'देवानानुविधा वै मनुष्याः' यही है यहाँ की आर्षनिष्ठा। जिसका तात्पर्य्य यही है कि, यज्ञविज्ञान-संस्था के आधार पर ही मानव को अपनी भूतविज्ञानसंस्थात्मिका अध्यात्मसंस्था का समन्वय करना चाहिए, यही इसकी यज्ञोच्छिष्टानुगति मानी गई है, जिसका निष्कर्ष यही है कि, यह दृश्यप्रपञ्चात्मक भूतविज्ञान-विवर्त्त प्राणात्मक, अतएव अदृश्य यज्ञविज्ञान पर प्रतिष्ठित रहने वाला उसीका प्रवर्ग्यरूप शेषांश है। 'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्'-तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इत्यादि श्रौत सिद्धान्त इसी विज्ञान का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। नीचे लिखे परिलेखों से भारतीय ज्ञानविज्ञानधाराओं का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है।

१-आत्मा-ज्ञानमय; आत्मज्ञानम्-पुरुषज्ञानम् (अव्ययप्रधानम्)
२-ब्रह्म—-विज्ञानमयम्; ब्रह्मविज्ञानम् प्रकृति विज्ञानम् (अक्षरप्रधानम्)
३-यज्ञः—विज्ञानमय; यज्ञविज्ञानम् प्रकृतिविकृतिविज्ञानम् (आत्मक्षरप्र०)
४-भूतम्—विज्ञानमयम्; भूतविज्ञानम् विकारविज्ञानम् (विकारक्षरप्रधानम्)

१-पुरुषज्ञानांशः—-आत्मा-आत्मा——-लोकातीतः
२-प्रकृतिविज्ञानांशः-बुद्धिः—कारणशरीरम्—सौरम्
३-प्र०वि०विज्ञानांशः-मनः—सूक्ष्मशरीरम्—चान्द्रम्
४-विकारांशः-——शरीरम्-स्थूलशरीरम्—पार्थिवम्

(१-४) —स एष मानवः

१–आत्मना शान्तिमर्जयति मानवः (सैषा आत्मस्वरूपनिष्पत्तिः)

२–बुद्धया तृप्तिमर्जयति मानवः (सैषा कारणशरीरनिष्पत्तिः)

३–मनसा तुष्टिमर्जयति मानवः (सैषा सूक्ष्मशरीरनिष्पत्तिः)

४–शरीरेण पुष्टिमर्जयति मानवः (सैषा स्थूलशरीरनिष्पत्तिः)

———❀———

१–शान्तात्मना	मोक्षसाधनम्	ततः आत्मसंविदाप्तिः	–निःश्रेयससिद्धिः
२–तृप्तबुद्धया	धर्म्मसाधनम्	ततः व्यवसायनिष्ठावाप्तिः	
३–तुष्टमनसा	कामसाधनम्	ततः स्थितप्रज्ञतावाप्तिः	–अभ्युदयसंसिद्धिः
४–पुष्टशरीरेण	अर्थसाधनम्	ततः लोकवैभवाप्तिः	

———❀———

अपनी इत्थंभूता समन्वयबुद्धि से पराङ्मुख भारतीय मानव चारों ही ज्ञानविज्ञानधराओं से पृथक् हो गया है। अतएव आज तो 'विज्ञान' समन्वय के लिये एकमात्र प्रतीच्य प्रज्ञा ही हमारे लिये आराध्या मानी जायगी। अतएव हम उन्हीं विज्ञानजागरूक प्रतीच्य विद्वानों से यह नम्र आवेदन करेंगे कि, 'विश्वमानवता' के अनुबन्ध से अनुग्रहात्मक कर्त्तव्य की भावना से अपने प्रकान्त विकृतिविज्ञानात्मक भौतिक विज्ञान के साथ साथ तन्मूलक प्रकृतिविज्ञान की ओर भी वे अपना ध्यान आकर्षित करेंगे। एवं तद्द्वारा हम भ्रान्त भारतीयों के पथप्रदर्शन द्वारा इस मानवीय महान् उत्तरदायित्ववहन का भी अनुग्रह करेंगे। यही हम प्रणत भाव से आज उनसे याचना कर रहे हैं। हम उनसे उनका वह विकृतिविज्ञान

नहीं माँग रहे, जो ब्रह्म–यज्ञाधार से वञ्चित रहने के कारण विश्वशान्ति के लिये आज अभिशाप ही प्रमाणित हो रहा है। अवश्य ही हम सब कुछ खो बैठे । सब कुछ खो देने पर भी आज भी हमारी आत्मनिष्ठा इस सीमापर्य्यन्त प्रचण्डरूपेण सुरक्षित बनी हुई है कि, जिसके अनुग्रह से सहस्र-सहस्र वर्ष पर्य्यन्त विकृतिविज्ञानात्मक भौतिक विज्ञान की घोषणा प्रक्रान्त रखते हुए भी वे विज्ञानवादी तबतक प्राच्यप्रज्ञा को इसमें आरूढ़ नहीं कर सकेंगे, जबतक कि वे हमारी वह बुभुक्षा शान्त नहीं कर देंगे, जिसका यज्ञविज्ञानात्मक ब्रह्मविज्ञान से ही सम्बन्ध है। और हम ऐसी सम्भावना रख रहे हैं कि,—"अवश्य ही प्रकृतिदेवी कभी न कभी उन कर्म्मठों में वह भूख जाग्रत कर देगी, अथवा तो कर दी होगी। अवश्य ही स्वयं वे भी ब्रह्म–यज्ञ–विज्ञान की प्रतिष्ठाओं से वञ्चित रहने वाले अपने भौतिक विज्ञानविजृम्भण की महती विभीषिका से अमुक अंशों में बाह्यरूप से नहीं, तो अन्तर्जगत् में शङ्कित–विकम्पित हो पड़े होंगे इस भौतिक विज्ञान के महाभयावह भुक्त–प्रक्रान्त, एवं भावी दुष्परिणामों–नरसंहारयज्ञों की कान्वालीकृता स्मृति के अनुग्रह से" कृतज्ञता रूप से इत्थंभूत दृष्टिकोण सधन्यवाद समर्पित करता हुआ भारतवर्ष उनके सम्मुख प्रणतभाव से इतना भर निवेदन कर देने का परम्परासिद्ध आध्यात्मिक उत्तरदायित्त्व सुरक्षित रखने में आज भी अपने आपको समर्थ अनुभूत कर ही रहा है।

भारतीय 'विज्ञान' शब्दार्थ–समन्वय के सम्बन्ध में अब हम और क्या विशेष निवेदन करें, जबकि आज शरीरशुद्धि के प्रकार भी हमसे पराःपरावृत बन गए हैं। स्नान–भोजन–गमन–शयन–शिष्टाचार–भाषण–

लेखन-आदि आदि सभी क्षेत्रों में आज हम भारतीय सर्वथा ही शून्यं-शून्यं प्रमाणित हो रहे हैं, जबकि उन विज्ञाननिष्ठों की जीवनपद्धतियाँ उनके अपने देश-कालानुबन्ध से सर्वथा सुव्यवस्थित हैं। सचमुच वे तो आज के युग के मानवश्रेष्ठ ही मानें जानें चाहिएँ, जो जिज्ञासा-पूर्वक तत्त्वान्वेषण कर्म्मों में अनन्य अध्यवसाय से तल्लीन हैं, जबकि हमारे यहाँ का विद्वद्वर्ग भी अपने आपको सब दिशाओं से कृतकृत्य मान रहा है। उन अध्यवसायनिष्ठों पर अवश्य ही प्रकृतिदेवी कभी न कभी अनुग्रह कर ही देगी।

'कर ही देगी' कहने मात्र से ही प्रकृति अनुग्रह कर नहीं दिया करती। उस अनुग्रह के प्रकार तो उन्हें आज भी इस प्राच्यदेश की पुराणी प्रज्ञा में ही अन्तर्निहित उपलब्ध होंगे। अतएव यहाँ के मानवों को पराया न समझ कर आत्मीयभाव से ही इन्हें अपने वक्षस्थल से शुद्धबुद्धिपूर्वक समालिङ्गित करते हुए समन्वयबुद्धिमाध्यम से ही उन्हें वैसा उपाय खोज निकालना है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण मानव एक दूसरे को परस्पर आत्म-बन्धु मानते हुए स्वस्तिभाव प्राप्त कर सकें। क्योंकि विज्ञान किसी का प्रातिस्विक दायाद नहीं है। जबकि मानवमात्र विश्वमानवता के अङ्ग हैं, तो सभी मानव विश्वविज्ञान के प्रति समानरूप से दायादभोक्ता माने जा सकते हैं। अतएव जिन निरर्थक ग्लानिकर मनोमालिन्यजनक हेत्वा-भासों से प्राच्य-प्रतीच्य में अन्तराय उत्पन्न हो जाता है, उन्हें सर्वात्मना निःशेष करते हुए सभी को इस विज्ञानसत्त्रात्मक ज्ञानसत्त्र में समाविष्ट होते हुए विज्ञानसमन्वय में निर्विरोध समन्वित होने का प्रयास करना ही चाहिये।

स्पष्ट है कि, भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने एक ओर यदि आत्म-परमात्म जैसे सुसूक्ष्म तत्त्वों के ईक्षण में पारदर्शिता प्राप्त की है, तो परीक्षणात्मक

भूतविज्ञान भी इसकी दृष्टि से परोक्ष नहीं रहा है। अवश्य ही वेदयुगात्मक देवयुग में विविध प्रकार के वैसे वैज्ञानिक आविष्कार भी हुए हैं भारतराष्ट्र में, जिनका यत्रतत्र स्वयं वेदशास्त्र में यशोवर्णन है।

हमारी इच्छा थी कि, 'भूतविज्ञान' से सम्बन्ध रखने वाले जिन भौतिक आविष्कारों का वेदशास्त्र में साटोप उपबृंहण हुआ है, उनमें से कुछ एक के निदर्शन भी प्रस्तुत वक्तव्य में समाविष्ट किए जाते। किन्तु वक्तव्य आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो गया है। इसके अतिरिक्त सर्वात्मना सम्पूर्ण विज्ञानपरम्पराओं को विस्मृत कर देने वाले आज के भारतीय मानव के लिए ऐसे निदर्शनों का यशोगान करना केवल अपना उपहास ही कराना है, जबकि आज 'विज्ञान' शब्द के उच्चारण का भी इसे अधिकार नहीं रह गया है। इन्हीं सब कारणों से यह निदर्शन-प्रसङ्ग अनावश्यक मान लिया गया है। 'वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्त्वम्' नामक स्वतन्त्र संस्कृतवक्तव्य में इन निदर्शनों के कतिपय संस्मरण संगृहीत हैं। जिनका मुख्य उद्देश्य एकमात्र यही है कि, आज के भारतीय विद्वान् अपनी वर्त्तमान दर्शनभक्ति का परित्याग कर वेदशास्त्रसिद्ध विज्ञानोपासना में जागरूक बनें, तद्द्वारा अपने विलुप्त विज्ञानगौरव को प्रतीच्य विज्ञान के साहाय्य से पुनः प्रतिष्ठित करें। इसीलिए शतपथ-ब्राह्मण का विज्ञानभाष्य राष्ट्रभाषा हिन्दी में उनके सम्मुख प्रणतभाव से प्रस्तुत हुआ है, जिसमें प्रधानरूप से भारतीय वैज्ञानिक परिभाषाओं के समन्वय की ही चेष्टा हुई है। वर्त्तमान भूतविज्ञान के व्यामोहन से सर्वथा असंस्पृष्ट रहते हुए केवल भारतीय यज्ञविज्ञान, तथा तन्मूलक ब्रह्मविज्ञान की परिभाषाओं का यथाशक्य स्पष्टीकरण करने का प्रयास करना ही हमारे यत्रतत्र उद्धृत 'विज्ञान' शब्द का समन्वयार्थ है। ब्रह्मविज्ञान के आधार

पर प्रतिष्ठित यज्ञविज्ञान ही भारतीय विज्ञान शब्द की मौलिक अर्थसङ्गति है, जिसके द्वारा भूतविज्ञान के समन्वय का भी उपक्रम सम्भव है। और इसके लिए प्राच्य-प्रतीच्य विज्ञानों का उभयनिष्ठ मेधावी वैज्ञानिकों के द्वारा समन्वय अपेक्षित है। अवश्य ही इस समन्वय से विश्वमानव विज्ञान के उस सिद्धान्तबिन्दु को लक्ष्य बनाने में समर्थ बन सकेगा, जिस समन्वयबिन्दु को प्रतिष्ठा बनाने के अनन्तर वही विज्ञान विश्वशान्ति, तथा लोकवैभव, दोनों महान् फलों का सर्जक प्रमाणित हो सकता है।

भारतीय 'विज्ञान' शब्द के समन्वय से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्तुत वक्तव्य के आधार पर अब सर्वान्त में एक विशेष आर्ष-प्राच्य-दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण कर लेना है। निवेदन किया गया है कि, भारतीय ज्ञान-विज्ञान-धाराएँ क्रमशः **आत्मज्ञान**, **ब्रह्मविज्ञान**, **यज्ञविज्ञान**, तथा **भूतविज्ञान** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ये चारों ज्ञान-विज्ञान-धाराएँ क्रमशः मानव के प्रकृति-विकृति-भावों से सर्वथा अतीत अव्ययपुरुष-निबन्धन **आत्मतन्त्र** से, 'पराप्रकृति' नामक 'मूलप्रकृति' रूप अक्षर-निबन्धन **बुद्धितन्त्र** से, 'प्रकृतिविकृति' नामक 'तूलप्रकृति' रूप आत्मक्षर-निबन्धन **मनस्तन्त्र** से, एवं 'विकृति' नामक विकारजगद्रूप विकारक्षर-निबन्धन **शरीरतन्त्र** से, क्रमशः समन्वित है, जिस इस समन्वय से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, मानव का आत्मा अव्ययज्ञान से उपकृत है, मानव की बुद्धि अक्षरविज्ञान से, मानव का मन क्षरविज्ञान से, तथा मानव का शरीर विकारविज्ञान से उपकृत है।

'आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर, ये चारों मानवीय पर्व विश्वेश्वर के अव्ययज्ञान-अक्षरविज्ञान-क्षरविज्ञान-विकारविज्ञान से उपकृत हैं'

क्या तात्पर्य्य हुआ इस वाक्य सन्दर्भ का ?। व्यवहार दृष्टि से, किंवा उपयोगिता की दृष्टि से क्या समझें, और क्या करें इन ज्ञान-विज्ञानधाराओं के समन्वय से ?। क्या भारतीय प्रज्ञा भी 'विज्ञान' के तृतीय संस्थानरूप 'भूतविज्ञान' को आधार बना कर वर्त्तमान भौतिक विज्ञान की ही भाँति कुछ एक वैसे भूत-भौतिक आविष्कार करनें लग पड़े, जिनसे मानवीय लौकिक व्यवहार सर्वथा सुगम बन जाया करते हैं। एवं जिन इत्थंभूत अनुकूलताप्रवर्त्तक भौतिक आविष्कारों से मानव अत्यधिक श्रम परिश्रमों के संघर्ष से अपना परित्राण कर लेता है। सर्वथा सुविधाजनक ऐसे भौतिक आविष्कारों का सर्ज्जन कर इनके माध्यम से श्रम-परिश्रमात्मक संघर्षजीवन को जलाञ्जलि समर्पित करते हुए अनुकूलता-सुख-सुविधा-पूर्वक अपने स्थूलशरीर को कुसुमसदृश बनाये रखना, ऐसे संघर्षशून्य शरीर को केवल आहार-निद्रा-काम-भोग-परायण बनाये रखना ही यदि भौतिक विज्ञान के नूतन आविष्कारों का एकमात्र महान् फल है, तो प्रणम्य है विदूर से ही ऐसे भूताविष्कार, एवं नमस्य है दूर से ही इसप्रकार के शारीरिक काम-भोग समर्थकमात्र भौतिक विज्ञानों का अमानवीय, किंवा दानवीय, किंवा तो पशव्य विजृम्भण।

तात्कालिकी प्रत्यक्ष दृष्टि से अवश्य ही कामोपभोग-अनुकूलता प्रवर्त्तक इन भूतविज्ञानों, तथा तदनुबन्धी भौतिक आविष्कारों का महतो-महीयान् ही उपयोग प्रतीत होरहा है। सम्भवतः इसी तात्कालिक आकर्षण के अनुग्रह से ही आज ज्ञानविज्ञाननिष्ठ भारतीय आर्षप्रज्ञा भी इसी उपयोगितावाद के तात्कालिक व्यामोह से व्यामुग्ध बनती हुई अपने ज्ञानविज्ञान सिद्ध शास्त्रीय विधिविधानों के प्रति -"क्यों ऐसा करें ?, क्या उपयोग है इनका ?, क्या उपयोगिता है आडम्बरपूर्ण

विज्ञानशून्य इन शास्त्रीय विधि–विधानों की ?" इसप्रकार के अनेक तर्कजालों का सर्जन करती हुई वर्त्तमान प्रतीच्य भूतविज्ञानाकर्षणमात्र के पथ का ही प्रचण्डवेग से अनुधावन करती जारही है, मानों इसके अपने शास्त्रीय विधि–विधानों का 'सत्यविज्ञान' से कोई सम्बन्ध ही न हो। किन्तु स्पष्ट है कि, प्रत्यक्ष में महान् भी उपयोगी प्रतीत होते रहने वाले भौतिक आविष्कार ज्ञानप्रतिष्ठालक्षणा आत्मप्रतिष्ठा से वञ्चित रहते हुए केवल मानव के मनःशरीरनिबन्धन काम–भोगों के ही समुत्तेजक बने हुए हैं। इन से न लोकसंग्रह सुरक्षित, न लोककामना ही पुष्पित–पल्लवित। अपितु लोकविनाश, तथा तन्मूला वह लौकेषणा जिसके द्वारा साम्राज्यलिप्सा–शासनलिप्सा–-भोगलालसा–ही प्रतिक्षण प्रवृद्ध बनती रहती है–ही उदीप्त बनती रहती है, बन रही है आत्म–प्रतिष्ठावञ्चित, अतएव आत्ममूलक समदर्शन से पराङ्मुख इन भौतिक वैज्ञानिक महारम्भों के अकाण्ड–ताण्डवनृत्यों से।

महत्सौभाग्य है आज भारतराष्ट्र का कि, वह भी पुनः इसी तथ्य की ओर आकर्षित होता जा रहा है। वह भी यह अनुभव करने लगा है कि, सत्य–अहिंसा–तप–दम–शम–आदि मूलक मानवीय आत्मधर्म्मों से ही मानव 'विश्वशान्ति' के सुखस्वप्नों को अन्वर्थ प्रमाणित कर सकता है। समदर्शनमूलक सह अस्तित्त्व का इसप्रकार अनुदिन अपनी घोषणाओं से समर्थन करने वाला भारत राष्ट्र अवश्य ही निकट भविष्य में हीं अपने राष्ट्र की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा प्राजापत्यनिधि के अन्वेषण में प्रवृत्त होगा ही, यह आशा की जासकती है। किन्तु········ ?

सर्वविनाशक इस 'किन्तु' के भुक्त–प्रकान्त इतिहास की रूपरेखा के माध्यम से यह अवश्य ही निवेदन कर दिया जायगा कि, केवल गतानु–

गतिकता से कदापि ऐसी आशाएँ कार्य्यरूप में परिणत नहीं हो जाया करतीं। केवल सत्य–अहिंसा–पञ्चशील–सहास्तित्त्व–आदि शब्दों के पारायणपाठ से ही ज्ञानविज्ञानात्मक सत्य कदापि परिगृहीत नहीं हो जाया करता तबतक, जबतक कि इन शब्दों के चिरन्तन मौलिक इतिहास को अपने क्रोड़ में प्रतिष्ठित रखने वाले भारतराष्ट्र के सर्वज्ञानविज्ञान-कोशात्मक वेदशास्त्र की आत्मानुगता ब्रह्म–यज्ञ–भूत–भेदभिन्ना विज्ञान-धारात्रयी का आश्रय नहीं ले लिया जाता। और कहना पड़ेगा कि आत्यन्तिक रूप से काल्पालीकृता विगत २–३ सहस्रवर्षों की अवधि में मानव के उद्‌बोधक जितनें भी मतवाद इस राष्ट्र में आविर्भूत हुए, उनमें से कतिपय वेदशास्त्र की तथाकथिता विज्ञानधारात्रयी से पराङ्मुख रहे इसे न समझने के कारण, एवं कितनें एक शरीरात्मवादी लोकायतिक इस प्राजापत्यनिधि के स्वरूप सम्पर्क से ही पृथक् बने रह गए। अपरिचित रह जाने वाले वेदभक्तों नें केवल ज्ञान की घोषणा की, तो सर्वथैव पृथक् रह जाने वाले लोकायतिकोंनें अपनी मान्यताओं के अनुसार सत्य-अहिंसादि की कल्पित व्याख्याओं से भावुक जनता को व्यामुग्ध कर लिया। इन्हीं दो प्रधान मतवादों के अनुग्रह से अवान्तर वैसे अनेक मतवाद आविर्भूत हो पड़े विगत अवधि में इस राष्ट्रप्राङ्गण में, जिससे राष्ट्र की समन्वयमूला ज्ञानविज्ञानात्मिका आर्षचिरन्तनपद्धति के अभिभव के साथ साथ मतवादमूला अहमहमिका का ही ताण्डवनृत्य जागरुक बन गया। कहीं हम आज इस जागरण की पावनवेला में परप्रत्ययनेयमूला-प्रत्यक्षप्रभावोत्पादिका–उसी भावुकतामात्र में आविष्ट होकर उन कल्पित सत्य–अहिंसा–आदि भावों का अनुगमन करते हुये पुनः किसी मतवाद विशेष के ही विजम्भूण के पथिक न बन बैठे, जिस इत्थंभूत कल्पित

विजृम्भण के कारण ही अनेक शताब्दियों से हम अपने मौलिक स्वरूप-बोध से वञ्चित होते आ रहे हैं। अतएव अत्यन्त सावधानी से जागरूक बन कर स्थिरप्रज्ञ बन कर ही हमें आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-समन्वयात्मिका उस जीवनपद्धति को ही खोज निकाल लेना है, जिसके मूलसूत्र इस भारतराष्ट्र के सर्वादिभूत निर्भ्रान्त-सम्प्रदायवाद से असंस्पृष्ट-ज्ञान-विज्ञानसिद्ध प्राजापत्यशास्त्र में ही सुगुप्त हैं, और दुर्भाग्यवश वही सर्व-मूर्द्धन्य प्राजापत्यशास्त्र राष्ट्र की प्रज्ञा से आज भी तिरोहित ही बना हुआ है। राष्ट्रीय प्रजा अपनी इस आर्षनिधि का स्वरूपबोध प्राप्त करे, तन्माध्यम से विलुप्तप्राया ज्ञान-विज्ञान-परिभाषाओं के अन्वेषण में प्रवृत्त हो, तद्द्वारा मानव की आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-मूला जीवनपद्धति को सुव्यवस्थित प्रमाणित करे, यही मानवाश्रम विद्यापीठ के प्रक्रान्त ज्ञान-सत्र से अनुप्राणित 'विज्ञान' शब्द का भारतीय दृष्टिकोण से किञ्चिदिव स्वरूप समन्वयेतिवृत्त है।

माननीय शरणजी !

वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान के ज्ञानसत्र में आपने भारतीय 'विज्ञान' शब्द के माध्यम से जो प्रश्नोत्तरविमर्श प्रक्रान्त किया, तत्सम्बन्ध में यथामति अपने विचार व्यक्त किए गए। हमारी ऐसी आस्था है कि, इस विमर्श से 'विज्ञान' शब्दानुबन्धिनी उन विप्रतिपत्तियों का सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः अवश्य ही निराकरण हो जायगा, जिनके कारण प्रकाशित-अप्रकाशित साहित्य में यत्रतत्र उपात्त 'विज्ञान' शब्द से अनेक प्रकार के ऊहापोह सम्भावित हैं।

सर्वान्त में हम आपके प्रति यही सहज कामना अभिव्यक्त करने की धृष्टता और कर लेते हैं कि, जिन भारतीय विद्वानों ने प्रतीच्य विज्ञान

का स्वाध्याय किया है, उन्हें अपने देश के इस वैदिक-'विज्ञान' शब्द की रूपरेखा से अवगत कराने के लिए यह आवश्यक होगा कि, उनकी बोधगम्या इंगूलिशभाषा के माध्यम से ही इस दृष्टि का प्रचार प्रसार किया जाय, जिस इंगूलिशभाषा के अक्षरज्ञान से भी हम वञ्चित हैं। आप जैसे उभयसंस्कृतिनिष्ठ विद्वान् हीं इस उत्तरदायित्त्व का यथावत् वहन करने की क्षमता रखते हैं।

इति-दुरितविरामः कीर्त्तिकान्ताभिरामः-
सुजनहृदयरामः कोऽप्यभूद्यस्य रामः ।
प्रकृतमनुसरामः पापपाशं तरामः-
सुकृतभुवि चरामस्तस्य नाम स्मरामः ॥

मानवाश्रमविद्यापीठ
दुर्गापुरा (जयपुर)

मार्गशीर्ष शुक्ल-दशमी वि. सं. २०१३

प्रकाशक—राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान
मानसाश्रम, दुर्गापुरा (जयपुर)
मुद्रक—श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय दुर्गापुरा (जयपुर)।

Joe [illegible]